चिन्ता

राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

अज्ञेय

चिन्ता

मूल्य दस रुपये (10 00)

पहला संस्करण (प्रतीक प्रकाशन) 1941 दूसरा संस्करण 1970

रूपक प्रिंटर्स शाहदरा दिल्ली में मुद्रित
CHINTA (Poetry) by Ajneya (Sachchidananda Vatsyayan)

दूसरे संस्करण की भूमिका

अपनी तीस वर्ष पुरानी रचना पढ़ कर कैसा लगता है, इस प्रश्न का उत्तर पाठक को न देना ही ठीक होगा। इस तरह की जानकारी को कवि की दीक्षा का ही अंग समझना चाहिए। दूसरा दीक्षाप्राप्त व्यक्ति वह जानकारी स्वयं प्राप्त कर लेगा, इतर व्यक्तियों को वह हो ही नहीं सकती जैसे कि दूसरे के पैर की बिवाई की पीर हम नहीं जान सकते।

इतना कह सकता हूँ कि इस पुस्तक का जो विषय है—मोटे तौर पर जिसे प्रेम कह लें और जिस में 'सखेतर' के प्रति सामान्य कौतूहल से ले कर दाम्पत्य तक के सभी प्रकार के ग्रह विग्रह का अनुभव आ जाता है—उस के बारे में मैंने कुल जो कुछ सीखा उसका अधिकांश इस पुस्तक की कविताएँ लिखे जाने के बाद ही सीखा। इस से यह तो ध्वनित होती ही है कि मेरे निकट यह पुस्तक पुरानी हो गया है। पर वैसा क्या इसी पुस्तक के बारे में कहा जायेगा? प्रश्न को इस रूप में रखने पर यह भी दीखता है कि बात को शायद कहना चाहिए कि मैं इस पुस्तक से पुराना हो गया हूँ। नयी से नयी रचना भी लिखी जाते ही पुरानी हो जाती है क्यों कि रचयिता तब से पुराना हो जाता है।

चिन्ता कई वर्षों से अप्राप्य रही। बीच-बीच में मुझ से कहा गया कि उसे फिर छपाना चाहिए, पर इस 'पुराने पड़ जाने' की बात को लेकर मैं उदासीन ही रहा। अध्येता के लिए पुराने भी ग्रन्थ-सामग्री रूप में सुलभ बने रहने चाहिए—सिद्धान्त रूप में इस बात को मान कर भी कृतिकार के नाते अपने पर लागू करना आवश्यक नहीं समझता, क्यों कि अपनी रचनाओं को 'अध्ययन-सामग्री' के रूप में महत्त्व देना नहीं चाहता, 'कृति' के रूप में ही पाठक के सामने

सकता है। मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि सम्पूर्णता में कहीं भी अश्लीलता नहीं होती न हो सकती है। अश्लीलता दृश्य में है या दर्शक में यह वितर्क उतना ही सूक्ष्म है जितना कि यह प्रश्न कि काव्य का रस कविता में है या उसके पाठक में। ऐसे वितर्क को मैं निष्प्रयोजन मानता हूँ। मेरी समझ में अश्लीलता वहाँ है जहाँ हम सम्पूर्णता को बलात् दृष्टि से हटा कर वस्तु का खण्डश: देखते हैं—फिर वह वस्तु चाहे मानव-देह की सी स्थूल हो चाहे शृंगार लीला अथवा प्रेम चेष्टा की सी सूक्ष्म। प्रस्तुत ग्रन्थ को भी व्यापक दृष्टि से देखने पर उसमें कहीं कोई अश्लीलता नहीं दीख पड़ेगी ऐसा मेरा विश्वास है। और जो इस व्यापक दृष्टि से उसे नहीं देखेंगे, उन्हें तो उसमें अर्थ ही नया मिलेगा और निरर्थकता से बड़ी अश्लीलता क्या होगी !

अन्त में एक बात और कहनी है। 'चिन्तप्रिया' की कविताएँ प्रायः सन् १९३२-३६ की हैं और एकायन की सन् १९३४-३५ की। अर्थात् इस ग्रन्थ के और मेरे बीच में कम से कम पाँच वर्ष का अन्तराल है। आशा है कि पाठक और आलोचक इस बात का और इसके विभिन्न परिणामों का ध्यान रखेंगे। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं तो इसे अब उसी निर्द्वन्द्व भाव से देखूँगा जिससे बालक अपनी बनाई हुई कागज की नाव नदी में बहाकर उसे देखता है—यद्यपि निर्माण के क्षण तक वह उसके जीवन का अभिन्नतम अंग और उसके अस्तित्व का सार-सत्य थी।

— अज्ञेय

पहले संस्करण की भूमिका

जिन दो एक आलोचकों ने मेरी रचनाओं पर सम्मति प्रकट करके मुझे गौरव प्रदान किया है उनकी प्रायः यह धारणा रही है कि मैं टेकनीक को अत्यधिक महत्त्व देता हूँ। मैं नहीं कह सकता कि यह साधारण स्थापना कहाँ तक सच है किन्तु प्रस्तुत रचना के पाठकों से मैं निवेदन करूँगा कि इसे पढ़ते समय वे टेकनीक के विचारों को या मेरे टेकनीक के प्रति जिज्ञासु वृत्ति को कुछ समय के लिए एक ओर रख दें। कविता अगर एक प्रयोग है तो टेकनीक का प्रयोग नहीं है। मानव के प्रेम के आन्तरिक इतिहास की इस अनगढ़ कहानी की रचना में टेकनीक की दिशा में कोई असाधारण कृतित्व कभी भी मेरा लक्ष्य नहीं रहा है। कलापूर्ण उक्तियों और चमत्कारिक युक्तियों के इस युग में यदि सीधी सीधी बात कहने को ही टेकनीक का एक नया प्रयोग मान लिया जाय तब तो बात दूसरी है अन्यथा मेरा उद्दिष्ट यही रहा है कि क्षेत्र विशेष में मानव के अन्तर्भावों का यथासम्भव स्वाभाविक और निराडम्बर प्रतिचित्रण कर दिया जाय।

पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध—पति और पत्नी का नहीं चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यतः एक गतिशील (डाइनैमिक) सम्बन्ध है। गति उसमें किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य—उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का, अथवा आकर्षण और विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्तुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले, जिसमें बाह्यरूप में कोई गति प्रेरणा नहीं है, किन्तु किसी न किसी प्रकार का आन्तरिक खिंचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम इस

पुरुष और स्त्री का चिरंतन संघर्ष कह सकते है। यही मूल संघर्ष चिंता का विषय है। पुस्तक के दो खण्डों में क्रमश: पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम के उद्भव, उत्थान विकास अन्तर्द्वन्द्व ह्रास, अंतर्मंथन, पुनरुत्थान और चरम संतुलन की कहानी कहने का यत्न किया गया है। कहानी वर्ण्य विषय की भाँति ही अनगढ़ है और जैसे प्रेम जीवन के प्रसंग गद्य पद्यमय होते है वैसे ही यह कहानी भी गद्य-पद्यमय है। दोनों खण्डों के नामों में संकेत रूप से पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण का निर्देश है।

काव्य की रूढ़ि में चिंता का स्थान कहाँ है इस से मुझे विशेष प्रयोजन नहीं है। यदि उस रूढ़ि में उसके लिए कहीं भी स्थान न हो तो भी मुझे खेद नहीं होगा। लिखते समय काव्य रचना मेरा उद्देश्य नहीं था और यद्यपि पुस्तक के दोनों खण्डों में कई पद्य ऐसे होंगे जो स्वतंत्र रूप से लिखे गये थे और जो शायद कविता के नाम से स्वीकार्य भी हों तथापि भाव सत्य की प्रतिष्ठा को ही मैं महत्त्व देता रहा हूँ।

काव्य रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक करने का प्रयत्न है—अपने ही भावों के निर्व्यक्तीकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म निवेदन है और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है—सर्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ कि शायद मेरे लिए शंकित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं आश्वस्त भाव से कह सकता हूँ कि जो भी व्यक्ति मानवत्व की—पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व की—परिपक्वावस्था तक पहुँच चुका है वह अनुभव करेगा कि चिंता की भाव धारा चेष्टित नहीं है। विश्वप्रिया और एकायन में पुरुष और स्त्री की जिन मनस्थितियों का भावों के जिस घात प्रतिघात का क्रमगत वर्णन या चित्रण है वे मनस्थितियाँ अवश्य ही परिपक्व विदग्ध मानव के भावना-जगत् में अपना प्रतिबिम्ब पायेंगी। भाव-सत्य की प्रतिष्ठा से मेरा यही अभिप्राय है और इसी के निमित्त से मैं उस सर्वजनीनता का दावा करता हूँ जो काव्य की प्रथम आवश्यकता है।

विश्वप्रिया में और प्रतिबिम्ब भाव से एकायन में दो एक स्थल ऐसे हैं जहाँ पर नैतिक छिद्रान्वेषी को अश्लीलता का भान हो

रखना चाहता हूँ। और फिर अध्यता के लायक सुलभता तो पुस्तक की एक-आध प्रति किसी पुस्तकालय म सुरक्षित रहन से भी सिद्ध हो जायेगी।

इस प्रकार यह पुस्तक कदाचित अभी और कुछ दिन केवल 'अध्यता सुलभ बनी रहती। पर कुछ समय पहले नपाल जाने पर यह जान कर सुखद आश्चय हुआ था कि काठमाडो के हिन्दी साहित्य के सभी पाठको को इस एक पुस्तक का स्मरण था—जब कि 'अनेय' की अन्य रचनाओ के बारे मे यह बात उन पर निरपवाद रूप से लागू न होती—उन पर भी नही, जिन्होन सकल्प पूवक 'अनेय' की कृतिया पढने का प्रयास किया था। इस आश्चय का एक पहलू यह था कि पुरानी या पुरानी पट गयी जान पडने वाली अपनी पुस्तका को यो ही विस्मत हो जाने देने की अपनी प्रवत्ति पर फिर विचार करना उचित जान पडा।

उसके बाद भी पुनमुद्रण म इतनी दर हुइ, इस का मुख्य कारण तो आलस्य ही रहा। (गौण कारण यह था इधर किसी प्रकाशक ने छापने को इसे माँगा नही।) अब फिर प्रकाशन का सुयोग आया है तो कुछ भूलें सुधार दी है, बाकी पाठ ज्यो का त्यो है। कुछ बदलने का लोभ कम नही था, पर बदलने लगता तो इतना कुछ बदल देता कि दूसरी पुस्तक हो जाती—और तब इसे फिर छापने का सवाल नये सिरे से उभर आता।

जब पुस्तक के पुरानी होने की बात कह दी, तब यह भी कहूँ कि अब दोबारा पढन म ऐसा लगा कि तीस बरस पहले भी मेरा सोचने का ढग और भावो के गुम्फन की पद्धति अपने समकालीनो से अलग थी यानी कविता की सरचना के बारे म मेरी धारणा औरो से भिन्न रही। अगर यह निरी पक्षधरता न हो तो (अपना पक्षधर होने का सन्देह किस पर नही हो सकता?) यह बात, कि स्वर अलग पहचाना जा सकता है, सन्तोष का ही विषय होना चाहिए।

इस के आगे, जसी भी है, चिता आपके सामने है।

—'अ

क्रम-सूची

छाया-कथा

मैं क्या इस प्रकार अपने हृदय को चीर कर देखता हूँ ? उस म प्रेम है या व्यथा, सुख है या दु ख, आशा है या निराशा प्रशस्ति है या तिरस्कार, यह जानन की चेष्टा क्यो करता हूँ ? अपने को बहुत अधिक जानने से कोई लाभ नहीं होता, केवल क्लेश ही क्लेश होता है

ईश्वर ने मनुष्य को आकृति और भावभगी इसलिए दी थी कि वह अपने मन को ससार की आँखो से छिपा सके और हृदय तथा अनुभूति दी थी ताकि वह अपनी आत्मा को अपनी ही अन्तदृष्टि से सुरक्षित रख सके—इस लिए नही कि वह अपने का खोल कर चीर फाड कर अपन घाव ससार को दिखाये ऐसा करना केवल अपनी लता ही नहीं यह अपनी मानवता की उपेक्षा है। हमारी सारी सभ्यता हमआवन करन का एक विराट प्रयास है – शरीर को वस्त्रा से, मन को मोह से, वेदना को अध्यात्म से, अशान्ति को विश्वास से हम सभ्य तभी तक है जब तक इस आवरण का छिन न करें— यदि हम ऐसा करत हैं तो शील के विरुद्ध ही नही, मानवता के विरुद्ध भी घोर पाप करते हैं

किन्तु वपरीत्य म क्सा आनन्द है ? एक असभ्य जगली, वना म दिगम्बर रह कर उस मे कही अधिक आनन्द पाता है जितना हम वस्त्राभषण म सज्जित हो कर शायद इसी लिए मैं य पन्ने लिख रहा हूँ और लिख कर एक शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ

हम सभी एक गेसा वस्तु पग जाग म सूने है जो हमारी त्रुटियाँ पूरी कर देगा हम सभी अनुराग और स्नेह और प्रेम के प्यासे है

यह है मेरी कहानी का अकुर

मेरी कल्पना म वह कभी दुखित, या अशान्त या व्यथित रूप म नही आती थी। मैं उसे सदा प्रसन्नवदना देखता था —और वह प्रसन्नता दुख की अनुभूति के बाद प्राप्त किये गये सुख से उत्पन्न प्रसन्नता नही थी वह थी केवल चिन्ता की अनुपस्थिति एक कठोर शीतल, हृदयहीन स्मिता उस के मुख अनेक छायाओं की रगभूमि था किन्तु मैंने कभी यह नही सोचा था कि वे छायाएं उस मुखपट के पार तक —उस की अन्तरतम गुफाओं तक — पहुचती थी।

और मैं समझता था मैं उस की इस अस्पष्टता का प्रेमी हू।

यो हुआ मेरी कहानी का आरम्भ

एक दिन आकाश के तारो को साक्षी बना कर हमने प्रतिज्ञाए की थी। और उस दिन वे कितनी महत्वपूर्ण जान पडती थीं— कितनी गौरवान्वित! वही जो बालू पर लिखे अक्षरो की भांति मिट गयी हैं! धिक्कार!

किन्तु मुझे या उसे या विधाता को इस का निर्णायक मैं नही हूँ

जीवन म बहुत से ऐसे कठोर सत्य हैं जो कि शायद हमारे देखने के लिए नही बने। मैं समझता हूँ सत्य को सहन करने की शक्ति बहुत थोड़े व्यक्तियों म होती होगी वह सत्य प्रिय हो अथवा अप्रिय

और शायद मनुष्य के लिए अच्छा ही है कि वह इतनी शक्ति नहीं रखता नहीं तो जीवन की जिन विभूतियो को हम बहुत अधिक महत्व देते हैं वे इतनी क्षुद्र जान पडती कि जीवन असम्भव हो जाता

जीवन की रक्षा के लिए मानव के पास एक बडा अस्त्र है इच्छित विश्वास। वह जैसी इच्छा करता है वैसा ही विश्वास कर

लेता है कवियों ने कहा है कि शक्ति मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है, किन्तु अगर ऐसी बात है तो हमने अपने अधिकार का कभी प्रयोग नहीं किया। मानव-जाति इतनी अधिक विश्वासी है कि अपने विवेक के विरुद्ध भी अपनी इच्छित बात पर विश्वास कर लेती है। सन्देह उठता है, किन्तु केवल उतने ही जितने में अपने विश्वासों की मिठास का अनुभव हो जाय!

कभी-कभी—शायद सदी में एक बार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिस की कामना की अपेक्षा उस का विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति संसार में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता संसार भर के दैन्य, दारिद्र्य दुःख में छिपा हुआ नित्य नग्न तथ्य उस की आँखों के आगे नाचता रहता है, और उसे वास्तव को भुला कर दर्शित की स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देख कर समझता है कि उसने बहुत कुछ किया किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण संसार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण वह अपने आप को ऐसा विश्वास नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ में था

मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।
यह थी मेरी कहानी की गति।

मुझ में अपने हृदय की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि मैंने कभी यह नहीं समझा कि उसे भी हृदय हो सकता है। मैं समझा वह एक सुन्दर चीज़ है साकार सौन्दर्य किन्तु कठोर अनग, जिस का ऊपरी आवरण मात्र स्पर्श्य है शायद—निश्चय—इसी लिए मेरे प्रेम में अवास्तविकता रहती थी, क्या कि सुन्दर पत्थर से प्रेम नहीं किया जाता!

तब एक दिन मैंने देखा, उस के भी हृदय है, एक प्रज्वलित हृदय, तब मैंने उस के ताप में ही अपनी प्रस्तर प्रतिमा गला डाली और एक नयी प्रतिमा का निर्माण किया—एक नयी प्रतिमा पायी—और यह नयी प्रतिमा थी एक स्त्री, मानवी—

मेरी प्रेयसी विश्वप्रिया

और यह है मेरी कहानी का अंत

और मेरा यह अभिमान टूट गया है। मैं अपने को विश्वास से ऊपर नहीं समझता, विवेक की सत्यता के आगे कामना की सत्यता का खण्डन नहीं करता। आज मेरे हृदय में विश्वास है।

वही मैं विश्व को देना चाहता हूँ और उस की स्वीकृति के लिए आवश्यक है कि उस अनुभूति का एक एक शब्द कह डालूँ

मैं असभ्य हूँ जंगली हूँ दिगम्बर हूँ पर मेरा मेरे हृदय में विश्वास है

विश्वप्रिया

इन कविताओ की
मूल प्रेरक अनुभूतियो के
सहभोक्ता को

१

छाया छाया, तुम कौन हो ?

ओ श्वेत, शान्त घन अवगुण्ठन ! तुम कौन सी आग की तड़प छिपाये हुए हो ? ओ शुभ्र, शान्त परिवेष्टन ! तुम्हारे रह शीत अन्तर म कौन सी बिजलियाँ सोती हैं ?

वह मेरे साथ चलती है।

मैं नही जानता कि वह कौन है, कहाँ से आयी है, कहाँ जायगी ! किन्तु अपने अचल घूंघट म अपना मुह छिपाये, अपने अचल वसना म सोयी हुई, वह मेरे साथ ही साथ उसे चल रही है जैसे अनुभूति के साथ वेगक

वह मेरी वधू है।

मैंने उसे कभी नहीं देखा। जिस ससार म मैं रहता हूँ, उस म उस का अस्तित्व ही कभी नहीं रहा। पर मेरा मन और अग प्रत्यग उसे पहचानता है, मेरे शरीर का प्रत्येक अणु उस की समीपता की प्रतिध्वनित करता है।

मैं अपनी वधू को नहीं पहचानता।

मैं उसे अनन्त काल से साथ लिवाय आ रहा हूँ पर उस अनन्त-काल के सहवास के बाद भी हम अपरिचित ह। मैं उस काल का स्मरण तो क्या, कल्पना भी नही कर सकता जब वह मेरी आँखो के आगे नही थी पर वह अभी अस्फुट, अपने म ही निहित है

वह है मेरे अन्तरतम की भूख !

वह एक स्वप्न है इस लिए सत्य है, वह कभी हुई नहीं इस लिए सदा से है, मैं उस से अत्यन्त अपरिचित हूँ इस लिए वह सदा मेरे साथ चलता है, मैं उसे पहचानता नहीं, इस लिए वह मेरी अत्यन्त अपनी है, मैंने उसे प्रेम नहीं किया इस लिए मेरा सारा विश्व उसी के अदृश्य पैरों में लोट कर एक अनन्य निर्मम से उसी का आह्वान करता है प्रिय!

छाया छाया तुम कौन हो?

२

छाया! मैं तुम से किस वस्तु का अभिलाषी हूँ?

मुक्त कुन्तलों की एक लट, ग्रीवा की एक वक्रिम मुद्रा और एक अधर मुस्कान और बस?

छाया! तुम्हारी निधियाँ, तुम्हारी चिरन्तन सम्पदा क्या है?

आँखों की एक चमक —आग्रह अर्थपूर्ण और रहस्यशील, अतल और छलकती हुई, किन्तु फिर भी चंचल आँख —और बस?

छाया! मैं क्या पा चुका और क्या खोज रहा हूँ?

मैं नहीं जानता, मैं केवल यह जानता हूँ कि मेरे पास सब कुछ है और कुछ नहीं, कि तुम मेरे अस्तित्व की सार हो किन्तु स्वयं नहीं हो!

३

विश्व-नगर में कौन सुनेगा मेरी मूक पुकार—
रिक्ति भरे एकाकी उर की तड़प रही झंकार—
अपरिचित! करूँ तुम्हें क्या प्यार?

नहीं जानता हूँ मैं तुम को
नहीं माँगता कुछ प्रतिदान
मुझे लुटा भर देना है
अपना अनिवार्य असंयत गान।

जो अबाध वे गगा ! नहीं मैं
अपनाने का इच्छुक हूँ
अभिलाषा कुछ नहीं मुझे, मैं
देने वाला भिक्षुक हूँ।

परिचय परिणय के बन्धन से
भी घेरूँ मैं तुम को क्या?
सृष्टि मात्र के वाञ्छनीय सुख !
मेरे भर हो जाओ क्या?

प्रेमी प्रिय का तो सम्बन्ध
स्वयं है अपना विच्छेदी—
भरी हुई अजलि में हूँ तुम
विश्व देवता की वेदी !

अनिर्णीत ! अज्ञात ! तुम्हें मैं
टेर रहा हूँ बारम्बार—
मेरे वद्ध हृदय में भरा
हुआ है युगा युगा का भार।

सीमा में मन बँधा, न तुम
खोलो अनन्त का माया-द्वार—
मैं जिज्ञासु दृगों का हूँ कि
अपरिचित ! कहूँ तुम्हें क्या प्यार?

विश्व नगर में कौन सुनेगा मेरी मूक पुकार—
रिक्ति भरे एकाकी उर की तड़प रही भकार—
अपरिचित ! कहूँ तुम्हें क्या प्यार ?'

४

सब ओर छिटे थे नीरव
छाया के जाल घनेरे

जब जगी स्वप्न जागृति में
मैं रुका पास आ तेरे।

मैंने सहसा यह जाना
तू है अबला असहाया
तेरी सहायता के हित
अपने को तत्पर पाया।

सामर्थ्य-रूप से उन्मद
मन जब तुझे पुकारा—
किस ओर से बही उच्छल
यह दीप्त विमूर्छन धारा?

हतमन विमूढ़ हुआ मैं
नतशिर हूँ तेरे आगे।
तेरी श्यामल अलकों में—
ये कंचन कण क्या जागे?

क्या हाय! रुक गया सहसा
मेरे प्राणों का स्पंदन?
मुझ को बाँधे ये कैसे
अस्पृश्य किन्तु दृढ़ बंधन!

५

हा कि मैं खो जा सकूँ!
हा, कि उस के भाल पर अवतंस-पद मैं पा सकूँ—
हा कि उस के हृदय पर एकाधिकार जमा सकूँ!
टूट कर उस के करों चिर-ज्योति में सो जा सकूँ—
हा कि उस के चरण छू कर आत्मभाव भुला सकूँ!

यदि न इतना भी लिखा हो भाग्य में, हे वञ्चने—
हाय ! देना विपिन प्रान्तर में कहीं विवरा मुझे !
पूर्णता हूँ चाहता मैं ठोकरों से भी मिले—
धूल बन कर ही किसी के व्योम भर में छा सकूँ !

६

तेरी आँखों में क्या मद है जिस को पीने आता हूँ—
जिस को पी कर प्रणय-पाश में तेरे मैं बँध जाता हूँ ?

तेरे उर में क्या सुवर्ण है जिस को लेने आता हूँ—
जिस को लेते हृदय-द्वार की राह भूल मैं जाता हूँ ?

तेरी काया में क्या गुण है जिस को लखने आता हूँ—
जिस को लख कर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ ?

७

आ जाना प्रिय आ जाना !
अपनी एक हँसी में मेरे आँसू लाख डुबा जाना !

हो हृत्तन्त्री का तार-तार
पीड़ा से झंकृत बार बार—
कोमल निज नीहार-स्पर्श से उस की तड़प सुला जाना।

फैला वन में घन-अन्धकार
भूला मैं जाता पथ-प्रकार—
जीवन के उलझे बीहड़ में दीपक एक जला जाना।

सुख दिन में होगी लोक-लाज
निशि में अवगुंठन कौन काज?
मेरी पीड़ा के घूँघट में अपना रूप दिखा जाना।

आज को यह कामना ही
चुभेगी बन शूल मग में।
भुवन भर का माप लेगा काल डग का व्यास।
प्रलय का आभास।

दूर तुम—हा, दूर तुम—अवसान आया पास,
आज प्रत्यय भी पराजित—मैं नियति का दास।
आज तुम से मिल सकूँगा था मुझे विश्वास।

९

ओ उपास्य! तू जान कि कैसे अब होगा निर्वाह—
इस प्रेमी उर में जागी है प्रिय होने की चाह!
अन्धकार में क्षीण ज्योति से पग-पग रहा टटोल—
आज चला खद्योत माँगने वाडव-उर का दाह!

१०

व्यथा मौन, वाञ्छा भी मौन प्रणय भी प्यार घृणा भी मौन—
हाय, तुम्हारे नीरव इंगित में अभिप्रेत भाव है कौन?
कोई मुझे सुझा दे—
मर भी जाऊँ तो जाऊँ, संशय की आग बुझा दे!

११

मैं अपने को एकदम उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ, किन्तु कर नहीं पाता।
मेरी इस उत्सर्ग चेष्टा को तुम समझती ही नहीं।

अगर मैं सौ वर्ष भी जी सकूँ और तुम मुझे देखती रहो तो मुझे नहीं
समझ पाओगी।

इस लिए नहीं कि मैं अभिव्यक्ति की चेष्टा नहीं करता, इस लिए नहीं
कि मैं अपने भावों को छिपाता या दबाता हूँ।

लेना है   कवियों ने कहा है कि सेवा मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है, किन्तु अगर ऐसी बात है तो हमने अपने अधिकार का कभी प्रयोग नहीं किया। मानव-जाति इतनी अधिक विश्वासी है कि अपने विवेक के विरुद्ध भी अपनी इच्छित बात पर विश्वास कर लेती है। सन्देह उठते हैं, किन्तु केवल उतने ही, जितने में अपने विश्वासों की मिठास का अनुभव हो जाय।

कभी-कभी—शायद सदी में एक बार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिस की कामना की अपेक्षा उस का विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति समाज में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता   संसार भर के दैन्य, दारिद्र्य दुःख में छिपा हुआ नित्य भैरव तथ्य उस की आत्मा के आगे नाचता रहता है, और उस वास्तव को भुला कर इच्छित की स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देख कर समझता है कि उसने बहुत कुछ किया किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण संसार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण वह अपने-आप को ऐसा विश्राम नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ में था

मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।
यह थी मेरी कहानी की गति।

मुझ में अपने हृदय की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि मैंने कभी यह नहीं समझा कि उस भी हृदय हो सकता है। मैं समझा, वह एक सुन्दर चीज है, साकार सौन्दर्य, किन्तु कठोर, अलग, जिस का ऊपरी आवरण मात्र स्पृश्य है   शायद—निश्चय—इसी लिए मेरे प्रेम में अवास्तविकता रहती थी, क्या कि सुन्दर पत्थर से प्रेम नहीं किया जाता।

तब एक दिन मैंने देखा, उस के भी हृदय है, एक प्रज्वलित हृदय, तब मैंने उस के ताप में ही अपनी प्रस्तर प्रतिमा गला डाली और एक नयी प्रतिमा का निर्माण किया—एक नयी प्रतिमा पायी—और यह नयी प्रतिमा थी एक स्त्री, मानवी—

विश्वप्रिया

इन कविताओं की
मूल प्रेरक अनुभूतियों के
सहभावकों को

१

छाया छाया तुम कौन हो ?

ओ श्वेत, शान्त घन अवगुण्ठन ! तुम कौन सी आग की तड़प छिपाये हुए हो ? ओ शुभ्र शान्त परिवेष्टन ! तुम्हारे रहःशील अन्तर में कौन सी बिजलियाँ सोती हैं ?

वह मेरे साथ चलती है।

मैं नहीं जानता कि वह कौन है, कहाँ से आयी है कहाँ जायेगी ! किन्तु अपने अचल घूँघट में अपना मुँह छिपाये, अपने अचल वसना में सोयी हुई, वह मेरे साथ हो साथ ऐसे चल रही है जैसे अनुभूति के साथ कसक

वह मेरी वधू है।

मैंने उसे कभी नहीं देखा। जिस संसार में मैं रहता हूँ, उस में उस का अस्तित्व ही कभी नहीं रहा। पर मेरा मन और अंग प्रत्यंग उसे पहचानता है, मेरे शरीर का प्रत्येक अणु उस की समीपता को प्रतिध्वनित करता है।

मैं अपनी वधू को नहीं पहचानता।

मैं उसे अनादि-काल से साथ लिवाए आ रहा हूँ पर उस अनन्त-काल के सहवास के बाद भी हम अपरिचित हैं। मैं उस काल का स्मरण तो क्या कल्पना भी नहीं कर सकता जब वह मेरी आँखों के आगे नहीं थी, पर वह अभी अस्फुट अपने में ही निहित है

वह है मेरे अन्तरतम की भूख !

आ अगाध थे गगा ! नहीं म
अपनान का दुष्कृत हूँ,
अभिलाषा कुछ नहीं मुझे, म
देन वाला भिक्षुक हूँ।

परिचय परिणय के बधन से
भी घेरूँ म तुम का क्या?
सष्टि मात्र के वाञ्छनीय सुख।
मेरे भर हो जाआ क्या?

प्रेमा प्रिय का तो सम्बध
स्वय है अपना विच्छेदी—
भरी हुई अजलि म हूँ, तुम
विश्व-देवता की वेदी।

अनिर्णीत ! अनात ! तुम्ह म
टर रहा हूँ वारम्वार—
मेर वद्ध हृदय म भरा
हुआ है युगा युगा का भार।

सीमा म मन बँधा न तुम
खाला अनन्त का माया-द्वार—
म जिनासु इसी का हूँ कि
अपरिचित ! क्यों तुम्हें क्या प्यार?

विश्व नगर म कौन सुनगा मरी मूक पुकार—
रिक्त भर एकाकी उर की तडप रही झकार—
अपरिचित ! करूँ तुम्ह क्या प्यार?'

४

सब ओर छिडे थ नीरव
छाया क जाल घनर

जब छिपी स्वप्न जागृति म
म तेरा पास आ हारे।

मैंने सहसा यह जाना
तू है अबला असहाया
तेरी सहायता के हित
अपने को तत्पर पाया।

सामर्थ्य-रूप से उमड़
मैंने जब तुझे पुकारा—
किस ओर से वही उमड़ी
यह दीप्त विमूर्छन धारा ?

हतगर्व विमूढ़ हुआ म
नतशिर हूँ तेरे आगे।
तेरी श्यामल अलकों में—
ये कंचन-कण क्यों जागे ?

क्या हाय ! रुक गया सहसा
मेरे प्राणों का स्पन्दन ?
मुझ को बाँधे ये कैसे
अस्पृश्य किन्तु दृढ़ बन्धन !

५

हा कि मैं खो जा सकूँ !
हा कि उस के भाल पर अवतंस पद मैं पा सकूँ—
हा, कि उस के हृदय पर एकाधिकार जमा सकूँ !
टूट कर उस के करों चिर-ज्योति में सो जा सकूँ—
हा कि उस के चरण छू कर आत्मभाव भुला सकूँ !

यदि न इतना भी लिखा हो भाग्य में, हे वचने—
हाय ! देना विपिन प्रान्तर में वहीं बिखरा मुझे !
पूछता हूँ चाहता मैं ठोकरों से भी मिल—
धूल बन कर ही किसी के व्योम भर में छा सकूँ !

६

तेरी आँखों में क्या मद है जिस को पीने आता हूँ—
जिस को पी कर प्रणय-पाश में तेरे मैं बँध जाता हूँ ?

तेरे उर में क्या सुवर्ण है जिस को लेने आता हूँ—
जिस को लेते हृदय-द्वार की राह भूल मैं जाता हूँ ?

तेरी काया में क्या गुण है जिस को लखने आता हूँ—
जिस को लख कर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ ?

७

आ जाना प्रिय आ जाना !
अपनी एक हँसी में मेरे आँसू लाख डुबा जाना !

हों हृत्तन्त्री के तार-तार
पीड़ा से झंकृत बार-बार—
कोमल निज नीहार-स्पर्श से उस की तड़प सुला जाना।

घने वन में घन-अन्धकार
भूला मैं जाता पथ प्रकार—
जीवन के उलझे बीहड़ में दीपक एक जला जाना।

सुख दिन में होगी लोक-लाज,
निशि में अवगुंठन कौन काज?
मेरी पीड़ा के घूँघट में अपना रूप दिखा जाना।

निकर ज्वाला का दूँ प्रतीति ?
जग जग जल जल बाटी निशीथ !
ऊषा से पहले ही आ कर जीवन-दीप बुझा जाना।
प्रिय आ जाना !

८

आज तुम से मिल सकूँगा, था मुझे विश्वास !
आम जब कि बबूल पर भी
सिरिस कोमल बौर पलता—
मंजरी की प्यालियों में
ओस का मधु दौर चलता
खेलती थी विजन में सुरभित मलय की साँस।
उर भरे उल्लास।

प्यार के उन्माद से भर
पंडुकी भी स्वर बदल कर
सघन पीपल डाल पर से
थी बुलाती प्रणय सहचर—
छा रहा सब ओर था अनुराग का कलहास।
वह मिलन की प्यास !

कल—झुलसते सुमन-जग में
वेदना की हूक होगी
विरस श्री हत तरु शिखर पर
मूक कोकिल कूक होगी !
खर निदाघ ज्वाल में जल जायगा मधुमास।
झूठ कल की आस !

कल—जवानी की उमंगें
बिखर होंगी धूल जग में—

आज की यह कामना ही
चुभेगी बन शूल मग म !
भुवन भर को माप लगा काल डग का व्यास ।
प्रलय का आभास ।

दूर तुम—हा, दूर तुम—अवमान आया पास
आज प्रत्यय भी पराजित—मैं नियति का दास ।
आज तुम से मिल सकूगा था मुझे विश्वास ।

९

ओ उपास्य ! तू जान कि कसे अब होगा निर्वाह—
इस प्रेमी उर म जागी है प्रिय होने की चाह !
अधकार म क्षीण ज्योति से पग पग रहा टटोल—
आज चला खद्योत मागने वाडव उर का दाह !

१०

व्यथा मौन वाञ्छा भी मौन, प्रणय भी घार घृणा भी मौन—
हाय, तुम्हारे नीरव इगित म अभिप्रेत भाव है कौन ?
कोई मुझ सुझा द—
मर भी जाऊँ ता जाऊँ सशय की आग बुझा दे !

११

म अपने का एकदम उत्सग कर देना चाहता हू किन्तु कर नही पाता ।
मरी इस उत्सग चेष्टा का तुम समझती ही नही ।
अगर म सौ वप भी जी सकूँ और तुम मुझे देखती रहो ता मुझे नही
समझ पाओगी ।
इस लिए नही कि मैं अभिव्यक्ति की चेष्टा नही करता, इस लिए नही
कि म अपने भावा को छिपाता या दबाता हूँ ।

म हज़ार बार अभि यक्ति का प्रयत्न करता हूँ, कि तु उस का फल मरे भाव नही होन, उन म म नही होता। व हात है केवल एक छाया मात्र मेरे मन के भावो की प्रतिक्रिया मात्र मेरे भावा की तत्समता उन म नही होती, यद्यपि उन का एक एक अणु मरे किसी न किसी भाव से उदभूत होता है।

म कवि हूँ किन्तु मरी प्रतिभा अभिशप्त है। ससार का चित्रण करने का सामथ्य रखते हुए भी मैं अपने का नही व्यक्त कर सकता।

१२

मेरे उर ने शिशिर हृदय से सीखा करना प्यार—
इसी व्यथा स राता रहता अ तर बारम्बार !

कठिन कुहर प्रच्छ न प्राण म पावक दाह प्रसुप्त—
पतझर की नीरसता म चिर-नव-यौवन भडार।
धवल मौन म अस्फुट मधु वभव क रग असख्य—
तदपि अकेला शिशिर काल का पीडा-कोषागार।

मरे प्रम दिवस भी मर जीवन के कटु भार—
मेरे उर न शिशिर हृदय स करना सीखा प्यार !

१३

गए दिना म औरा स भी मने प्रणय किया है—
मीठा कामल स्निग्ध और चिर-अस्थिर प्रेम दिया है।
आज किन्तु प्रियतम ! जागी प्राणा म अभिनव पीडा—
यह रस किसने इस जीवन म दो-दो बार पिया है ?

वश खडा रहता जसे पत्ता पत्ता बिखरा कर—
वस झरे मभी वे मरा अनुभव भार बढा कर।
किन्तु आज साधना हृदय की फल-सी टपक पडी है—
प्रियतम ! इस को ल लो तुम अपना आँचल फला कर !

१४

फूला वही एक फूल।

विटप के भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।
मलय-समीर उसे पा न सकी
ग्रीष्म की भी गरिमा भुका न सकी
सुरभि को उस की छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु धूल।
फूल था या आग थी जली जो अनजाने में।
जिस की लुनाई देख विटप भुलस गया—
सौरभ से जिस के समीरण उलझ गया—
भय निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया।

ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छान कर
एक तीखे घूट ही में पान कर
लाख-लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा
—हाय उस सुमन की छोटी सी परिमा। —
मूर्च्छित हो कुसुम स्वयं ही वह चू पड़ा—
जानने को जाने किस जीवन की महिमा।

× × ×

वह तब था जब तुझे किया था मैंने प्यार—
ओ सुकुमार—सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार।
तुझ को ही तो था वह उपहार।

तेरे प्रति निज प्रेम भाव को धारण कर मस्तक पर मैं,
जाने कब से खड़ा हुआ था आँखें आँसू से भर मैं।

प्रम पूत वो रक्षा म जिन भव-वभव भी द डाला—
आहुति निज जीवन की द कर उस न सौरभ या पाता !

भूलगा धरा रहा म त मत एक पुत्र की ही माला—
तर जीवन म टपका दी मन निज जीवन-ज्वाला !

यह तब था जब तुझ दिया था म न प्यार—
ओ सुकुमार—सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार !

[२]

जाने कितनी दूर वन प्रान्तर स उड कर
आया एक धूलि-कण ।

ग्रीष्म न तपाया उस
शीत ने सताया उस
भव ने उपेक्षा के समुद्र म डुबाया उस
पर उस म थी कुछ एसी एक धीरता—
जीवन-समर म थी एसी कुछ वीरता
जग सारा हार गया
डाल हथियार गया
अपन कलक की ही कालिमा के बिन्दु म
क्या वह या कि आत्म ताडना के सिन्धु म ?
और वह धूलि कण ।

द्रौपदी के पट जसा
वारिधि के तट जसा
वामन की माँग सा अनन्त
भूख की पुकार सा दुरन्त
बढ़ता चला गया—
व्योम भर छा गया—

शून्यता भी पूर्ति से छनक गयी—
तिमिर म दामिनी दमक गयी—
धूलि-कण म विभूति किरण चमक गयी।

रेणु थी जो धूलि थी—
आज वह हो गयी

निरभावनम दृग धन्य भरे जग की
—वही जो कभी थी—जो है—रेणु तेरे पग की।

×

यह अब हैं—जब मैंने पाया तेरा प्यार।
ओ सुकुमार—सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार।

यह गौरव है तेरा ही उपहार।
बिन पाये क्या था मैं पर अब
क्या न हुआ पा तेरा प्यार।
धूलि स्वयं पर आज मुझे है
तुच्छ धूलि से भी ससार।

ओ सुकुमार—सौरभ स्निग्ध—ओ सुकुमार।
ऐसा अब जब मैंने पाया तेरा प्यार।

१५

इस कोलाहल भरे जगत म भी एक कोना है जहा प्रशान्त नीरवता है।

इस कलुष भरे जगत म भी एक जगह एक धूल की मुट्ठी है जो मन्दिर है।

मेरे इस आस्थाहीन नास्तिक हृदय म भी एक स्रोत है जिस से भक्ति ही उमड़ा करती है।

जब मैं तुम्हें प्रियतम कह कर सम्बोधन करता हूँ तब मैं जानता हूँ कि मेरे भी धर्म है।

प्रियतमे ! उस एक वाक्य को दुहराओ—दस बार हजार बार दुहराओ ! तुम चुप क्या हो ?

भय, चिंता, व्रीडा ? तुम सोचती हो कि मैं तुम्हारी कहानी पहले सुन चुका हू कि तुम मुझे यह एक वाक्य कई बार कह चुकी हो इस से उस की नूतनता नष्ट हो गयी है।

यदि ऐसा है तो कहो तुम्हारी कौन सी ऐसी बात है तुम्हारे जीवन का कौन सा अंग जिसे मैं पहले से नहीं जानता ! क्या मैं और तुम वक्ष से वक्ष और आंखों से आँखें मिलाये ही कई युगों के महासागर को पार कर के नही आये ? क्या मैं और तुम सृष्टि के उद्भव के समय से ही एक अभिन्न नहीं थे, और क्या हमारा यह संयोग भावी अनन्त के उर को चीरता हुआ नहीं चला गया है ? तब हमारा कौन सा ऐसा अंग है जो दूसरे के अन्तरम से अभिन्न परिचित हो कर उस की रहस्यमयता के पीछे छिपी व्यक्तता को नहीं पहचानता ! इस से क्या हमारा जीवन नष्ट हो गया है ?

प्रियतमे ! उस एक वाक्य को मैं तुम से असंख्य बार सुन चुका हूँ। तुम्हारी कहानी मेरी कहानी से भिन्न नहीं है फिर भी मैं उस असंख्य बार पढ़ चुका हूँ।

तुम्हारे उस वाक्य के शब्दों के कम्पन में एक स्निग्ध स्पर्श की छाया है। तुम्हारी आंखों में एक परिव्याप्त मृदुल ज्योत्स्नापूर्ण तरलता है। तुम चुप क्या हो ?

ऊषा नित्य ही आ कर आकाश में अपने केश बिखरती है। नित्य ही हम तरुण अरुण की धूप में बैठ कर एक कृतज्ञतापूर्ण सुख से परिप्लावित हो जाते हैं। नित्य ही प्रात समीर आ कर अलसाये स्वर में कुछ कह जाता है। तुम ऊषा की बिछलन से अरुण की आभा से और प्रात समीर के सौरभ से भरे हुए उस एक वाक्य को दुहरा भर दो और उसे दुहराते समय किसी नूतनता से नहीं उसी चिर अभ्यस्त और परिचित स्नेह कम्पन से और परिव्याप्त ज्योत्स्ना से दीप्त हो उठो !

प्रियतमे ! तुम उस एक वाक्य को दुहराओ—दस बार, सौ बार हजार बार दुहराओ ! तुम चुप क्यों

१७

प्राण, तुम आज चिन्तित क्यो हो ?

चिन्ता हम पुरुषो का अधिकार है। तुम केवल आनन्द से दीप्त रहने को मत्र और अपनी कान्ति की आभा फैलाने को हो।

पुष्प डाल पर पुष्पता मात्र है उस का जीवन रस किस प्रकार भूमि से खींचा जायगा किस किस की मध्यस्थता से उस तक पहुँचेगा इस की यह चिन्ता नही करता है।

वह केवल पुष्पता है अपने सौंदर्य और सुवास से जगत् को मोहित करता है उस का जीवन सफल करता है और झर जाता है।

प्राण तुम आज चिन्तित क्या हो ?

१८

तुम्हारा जो प्रेम अनन्त है जिसे प्रस्फुटन के लिए असीम अवकाश चाहिए उसे मैं इस छोटी सी मेखला मे बाँध देना चाहता हूँ।

तुम मेरे जीवन वृक्ष की फूल मात्र नही हो मेरी सम सुख दु खिनी, मेरी सगिनी, मेरे अनन्त जन्मो की प्राणभार्या हो।

तुम्हें मेरे सुख म सुखी होने भर का अधिकार नही तुम मेरे गान की लय हो, मेरे दुख का क्रन्दन मेरी वेदना की तडप, मेरे उत्थान की दीप्ति मेरी अवनति की कालिमा मेरे उद्भव का आनन्द और मेरी मृत्यु की अखड नीरव शान्ति भी तुम्ही हो।

प्राण यदि मैं तुम्हे बाधना चाहूँ तो तुम वे बन्धन काट डालो।

१६

ससार का एकत्व एक सामान्य निर्बलता का बन्धन है, उस का प्रत्येक अग अपनी निर्बलता को छिपाने के लिए मिथ्या सामर्थ्य का अभिनय करता है। इसी लिए ससार के सामान्य प्राणी अपनी शक्तियो को ही दूसरो से बटाते हैं, शक्तियो के ही साझीदार होते हैं।

किन्तु मेरा और तुम्हारा एकत्व हमारी निर्बलताओ म नही हमारी समान सामर्थ्य और शक्ति से गूथा गया है। इसलिए आओ, हम-तुम

अपनी-अपनी निष्फलताओं के साक्षीदार होवें, अपने अन्तर के घोरतम रहस्यमय गह्वरों और परिक्रमाओं का एक दूसरे से राह डालें।

२०

क्या कहूँ कि तेरे पास आते समय मेरी काया अमलिन सम्पूर्ण और पवित्र है या कि मेरी आत्मा अनाहत अविच्छिन्न है?

क्योंकि तुझ तक पहुंचने में तेरी खोज में बिताये हुए अपने भूखे जीवन में क्या मुझे भयंकर अन्धकार कीच-कर्दम और कटीली झाड़ियों में से उलझते हुए नहीं आना पड़ा?

अमलिनता सम्पूर्णता और पवित्रता का आदर मैंने किया है—उन की अप्राप्ति में। उन्हें प्राप्त करना और सुरक्षित रखना मुझे तुम से ही सीखना है।

किन्तु तेरे समीप आते हुए मेरे पास एक वस्तु अवश्य है—मेरी काया अब भी अनुभूति सामर्थ्य रखती है और मेरी आत्मा अब भी स्वच्छन्द और अबद्ध है।

२१

हमारा-तुम्हारा प्रणय इस जीवन की सीमाओं से बँधा नहीं है।

इस जीवन को मैं पहले धारण कर चुका हूँ।

बैठे बैठे बैठे बैठे सोते हुए एकाएक जाग कर जब भी तुम्हारी कल्पना करता हूँ मेरे अन्दर कहीं बहुत से बांध टूट जाते हैं एक निर्बाध प्रवाह मुझे कहीं बहा ले जाता है मेरे आसपास का प्रदेश व्यक्ति सब कुछ बदल जाता है मैं स्वयं भिन्न रूप धारण कर लेता हूँ। पर ऐसा होते हुए भी जान पड़ता है मैं अपना ही कोई पूर्वरूप कोई घनीभूत रूप हूँ। और तुम उस पूर्व जन्म में भी मेरे जीवन वृत्त का केन्द्र होती हो।

चिरप्रेयसि! पुनर्जन्म असम्भव है। और सम्भव भी हो तो यह स्मृति कैसी?

किन्तु इस तर्क से मेरी अन्तर्दृष्टि पर मोह का आवरण नहीं पड़ता। मैं फिर भी अपने पूर्व जन्म का दृश्य स्पष्ट देख पाता हूँ।

मैं देखता हूँ, तुम मेरी अनन्त प्रणयिनी हो। इतना ही नहीं, मैं इस से भी आगे देख सकता हूँ। प्रत्येक जीवन में तुम आती हो एक अप्राप्य निधि की तरह मेरी आँखों के आगे नाच जाती हो और फिर लुप्त हो जाती हो—मैं कभी तुम्हें पहुँच नहीं पाता।

मैं जन्म-जन्मान्तर की अपूर्ण तृष्णा हूँ तुम उस की असम्भव पूर्ति। इस तृष्णा और तृप्ति का कहाँ मिलन होगा, कहाँ एक दूसरे में समाहित हो जायेगी, यह मैं नहीं जानता न जानने की इच्छा ही करता हूँ। इस तृष्णा में ही इतना घना जीवन भरा पड़ा है कि और किसी चाह के लिए स्थान ही नहीं रहता।

केवल कभी-कभी यह सम्भावना मन में कौंध जाती है कि यह एकीकरण कभी नहीं होगा।

२२

तुम गूजरी हो मैं तुम्हारे हाथ की वंशी।

तुम्हारे श्वास की एक कम्पन से मैं अनिर्वचनीय माधुर्य भरे संगीत में ध्वनित हो उठता हूँ।

ये गाने हमारे अगम्य जीवनों के अगम्य प्रणयों की स्मृतियाँ हैं।

वंशी की ध्वनि सुनते ही ये मानो किसी भूले हुए संगीत की झंकार सुन कर चौंक उठती हैं।

तुम और मैं मिल कर इस छोटे से मंडल का पूरा करते हैं। तुम्हारी प्रेरणा से मैं ध्वनित हो उठता हूँ, और उस ध्वनि की प्रेरणा से हमारी चिरन्तन प्रणयकामनाएँ पूरीकरण में लीन हो जाती हैं।

यही हमारे प्रेम का छोटा-सा किन्तु सर्वत सम्पूर्ण संसार है।

२३

अनन्त काल से मैं जीवन की उस मधुर पूर्ति की खोज करता रहा हूँ—जीवन का सौन्दर्य, कविता प्रेम और अब मैंने उसे पा लिया है।

यह एक मृदुल, मधुर, स्निग्ध शीतलता की तरह मुझ में व्याप्त हो गयी है।'

किन्तु इस व्यापक शान्तिपूर्ण एकरूपता में मुझे उस वस्तु की कमी का अनुभव हो रहा है जिसने मेरी प्यास को दिव्य बना दिया था—एक ही वस्तु—अप्राप्ति की पीड़ा!

२४

प्रिय, तनिक अन्दर तो आओ, तुम्हें साध्य-तारा दिखलाऊँ!
स्पष्ट प्रतीची के दीवट पर करुण प्रणय का दीप जला है—
लिये अलक्षित अनुनय-अंजलि किसे मनाने आज चला है?
प्रिये, इधर तो देखो, तुम से इस का उत्तर पाऊँ!
तुम्हें साध्य-तारा दिखलाऊँ!

अरुण सकल आकाश किन्तु उस में है तारा दीप्त अकेला।
अनमिष मेरी भी मनुहार यदपि तुम मूर्तिमती अवहेला!
अपलक नयन इसी विस्मय में कैसे तुम्हें मनाऊँ!
तुम्हें साध्य-तारा दिखलाऊँ!

नभ का दीप बुझा कर तत्क्षण डूब जायगा सन्ध्या-तारा।
जाते पर अपने प्रतिबिम्बों से भर जायगा नभ सारा!
ऐसी क्रिया प्रणय अपने में भी क्या तुम्हें बताऊँ?
तुम्हें साध्य-तारा दिखलाऊँ!

तुम अनुकूलो तो मैं तत्क्षण चरणों में से शीश हटाऊँ—
सम्मुख हो कर अगणित गीतों की मालाएँ तुम्हें पिन्हाऊँ!
तुम्हें साध्य-तारा दिखलाऊँ!

२५

प्राणवधूटी ।
अन्तर की दुर्जयता तुमने लूटी ।
गौरव-दृप्त दुराशाएँ
अभिमानिनी हुताशाएँ,
स्वीकृति भर से ही कर डाली झूटी ।
प्राणवधूटी ।

दान शीलता खो डाली—
दम्भ मलिनता धो डाली ।
अहमन्यता की छाया भी छूटी ।
प्राणवधूटी ।

दीन नयन की याञ्चा से
उर की अपलक वाञ्छा से
मंडित मेरी कुटिया टूटी फूटी ।
प्राणवधूटी ।

कम्पन ही से रुका हुआ
जीवन पगों झुका हुआ—
हाय तुम्हारी मुद्रा अब क्या रूठी ।
प्राणवधूटी ।

अवगुंठन का डालो चीर
प्रकटित कर दो उर की पीर
लज्जा के बिखरे पृष्ठों पर
आज बहा दो आँसू नीर—
बस भिक्षा दे डालो आज अनूठी ।
प्राणवधूटी ।

विश्वप्रिया

पहला पातक अपना ही
हो परिणय, यौवन मधु का !

पथ विमुख करे वह जग की
कुत्सा का पात्र बनावे,
दृढ नाग पाश में बाँधे
पाताल-लोक ले जावे !
निज जीवन का सुख ले लें !

मत मिथ्या क्रीडा से तुम
नत करो दीप्त मुख अपना—
मिथ्या भय की कम्पन में
मत उलझाओ सुख-सपना !

इस सुमन-कुंज से अपना
प्रभु बहिष्कार कर देंगे ?
उनके आतापन की हम
मुहजाही ही न करेंगे !
हम उत्पीडन क्या झेलें ?

हम उनके सही खिलौने—
क्या अपना खेल भुलावें ?
कन्दरा किसी में अपनी
हम क्रीडास्थली बनावें !
लज्जा, कुत्सा पातक की
पनपे वह अभिनव बेला
परिणय की छाया में हूँ
मैं तेरे साथ अकेला !
आदिम प्रेमांजलि दलें !
आओ, एक खेल खेलें !

वधुके, उठो !

रात्रि के अवसान की घनघोर तमिस्रता में आगामी ऊषा की प्रतीक्षा की आवेगपूर्ण थकान में हम जाग रहे हैं, मैं और तुम !

हमारे प्रणय की रात—हमारे प्रणय की उत्तप्त वासना-ज्वाला में रची हुई रात—समाप्त हो चुकी है और दिन नहीं हुआ।

हम अभी दिन नाम नहीं हुआ। फिर भी उठो, उठकर सामने देखो और यात्रा के लिए प्रस्तुत हो जाओ !

क्योंकि हमारे उस आलोक रात्रि के स्मारक इन चिह्नों को अपने मंगलवस्त्रों पर पड़े हुए इन धब्बों को, देख कर खिन्न होने का समय कहाँ है ?—और प्रयोजन क्या ?

वधुके, वह काम पीछे आने वालों पर छोड़ो। हमें तो आगामी रात तक की लम्बी यात्रा करनी है !

वधुके उठो !

हमारी जलायी आग जल जल कर रात ही में कहीं बुझ गयी है, और हम घोर अन्धकार के आवरण में उलझे हुए पड़े हैं—तुम और मैं !

किन्तु यह मत भूलो कि उषा अभी नहीं आयी है कि आरक्त प्रभात कालीन अंशुमाली ने अभी तक वेदना के विस्तार को भस्म नहीं कर डाला !

वधुके, उठो और सामने के विस्तीर्ण नीलिम आकाश में आँखें खोलो। हम तुम क्यों प्रत्यूष के तारे के साथ रोवें।

२९

सुमुखि मुझ को शक्ति दे
वरदान तेरा सह सकूँ मैं !

घोर घन की गूँज सा
आयास जग पर छा रहा है

दामिनी की तड़प-सा
उल्लास घुटता जा रहा है—
ऊपरी इन हलचलों की
आड़ में आकाश अविचल।
दे मुझे सामर्थ्य ध्रुव-सा
चिर अचल रह सकूँ मैं।

शोर से पागल जगत में
घुमड़ती हैं वेदनाएँ—
घोटती है नियति मुट्ठी
वे न बाहर फूट आयें—
बंधनों के विश्व में, हे
बंध मुक्ते! हे विशाले!
दे मुझे उन्माद इतना
मुग्ध सरि-सा बह सकूँ मैं!

रो रहे हैं लोग 'जग की
चोट को हम सह न पाते—
मौत चारों ओर है सब
ओर स्वर है बिलबिलाते।
तू, जिसे भव की कठिनतम
चोट ने कोमल बनाया—
शक्ति दे उर धार तुझ-सा
घात सारे सह सकूँ मैं!

रात सारी रात रो कर
ओस कण दो छोड़ जाती,
साँझ तम में जीर्ण अपना
प्राण धागा तोड़ जाती,
मौन असफल मौन ही
फल-सा हुआ है प्राप्त जग को—

यह सब कितने नीरस जीवन के लक्षण है ? मेरे लिए जीवन के प्रति ऐसा सामान्य उपेक्षा भाव असम्भव है।

सहस्रों वर्ष की ऐतिहासिक परम्परा, लाखों वर्ष की जातीय वसीयत, इस के विरुद्ध है। मेरी नस नस में उस सनातन जीवन की तीव्रता नाच रही है उस से फेर मैं अपने को एक सामान्य आनन्द में क्योंकर भुला दूं ?

मेरी तनी हुई शिराएँ इस से कहीं अधिक मादक अनुभूति की इच्छुक हैं, मेरी चेतना को इस से कहीं अधिक असाधारण उपद्रव की आवश्यकता है। बुद्धि कहता है कि जीवन से उतना ही माँगना चाहिए जितना देने का उस में सामर्थ्य हो। बुद्धि को कहने दो। मेरा विद्रोही मन इस क्षुद्र विचार को ठुकरा देता है—नहीं यह पर्याप्त नहीं है इस से अधिक—कहीं अधिक सब !

इस अविवेकी, तेजोमय भावात्मक भूख की प्रेरणा के आगे मेरी शक्ति क्या है ? मैं उस की प्रलयकारी आंधी में तृणवत् उड़ जाता हूँ।

[२]

मेरे मित्र मेरे सखा, मेरे एक मात्र विश्वबन्धु—आत्माभिमान ! देखो मैंने अपने अन्तर की नारकीय वेदना छिपा दी है मेरे मुख पर हँसी की अम्लान रेखा स्थिर भाव से खिंची है। जब तक रात्रि के एकान्त में मैं अपनी शय्या पर पड़ कर अपना मुंह नहीं छिपा लूंगा तब तक मेरे वदन पर शान्तिमय आनन्द के अतिरिक्त कोई भाव नहीं आ पायगा। तुम्हारा धीमा किन्तु दृढ़ स्वर मेरे साहस को बढ़ाता हुआ कहता रहेगा—'अभी नहीं, अभी नहीं

उस के बाद ?

मरुभूमि में जब आंधी आती है तब पशु अपना सिर रेत में छिपा लेते हैं। उत्तप्त रेत उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा पाती। मेरी शय्या के उस निविड़ एकान्त में कितनी आँधियाँ आकर चली जायें, मेरी यह आत्मा उसी प्रकार अनाहत, अक्षत रह जायगी।

भीगे हुए वस्त्र या भर्रायी हुई आवाज़ क्या है ? ये भी सामान्य जीवन की घटनाएँ हैं। इन में मेरा आहत अभिमान नहीं दीख पड़ेगा।

इस विचित्र खेल का अन्त क्या, कहा, कब होगा ?

विवेक कहता है, प्रत्यक घटना जिस का कही आरम्भ होता है, कहा न कही समाप्त होती है। तो फिर यह प्रणय जिस का उद्भव एक मधुर स्वप्न मे हुआ था कहाँ तक चला जायेगा ?

इस के दो ही अन्त हो सकते हैं—मिलन या विच्छेद।

यहा कौन-सा ?

मिलन ? तो फिर क्यो यह घोर यातना यह अविश्वास यह अनिश्चय यह ईर्ष्या, यह वचना की अनुभूति ?

विच्छेद ? तो फिर क्या यह बढती जानेवाली अशान्ति यह विक्षोभ यह उत्कट कामना यह पागलपन ?

[२]

आकाश म एक क्षुद्र पक्षी अपनी अपक्षा अधिक वेगवान पक्षी का पीछा करता जा रहा है।

क्षुद्र पक्षी ! तू अपने नीड स दूर और दूरतर होता जा रहा है अपने विभव को खो कर उस का पीछा कर रहा है।

किन्तु वह तेजोराशि वह ज्योतिर्माला तुझ से आगे तुझ स अधिक गति स उडी जा रही है। अनवरत चेष्टा स उस की ओर बढते रहने पर भी उस म और तुझ म अन्तर बढता जा रहा है

[३]

अन्त ? कब कहाँ, किस का अन्त ?

दोनो ही असम्भव

इस बढते हुए अन्तरावकाश के कारण किसी दिन वह तेजोराशि अदृश्य हो जायेगी—और तू क्षुद्र पक्षी तू शून्य मे भटकता रह जायगा—

शायद खो जायेगा

पागल, तेरा खेल समाप्त नहीं होगा !

३३

तुम्हीं हो क्या यह—
प्राज्वल रेखाओं में चित्रित ज्वाला एक अँधेरी—
पीड़ा की छाया हो मानो आशाओं ने घेरी ?
मारस गति से चली जा रही
मौन रात्रि में, नीरव गति से, दीपों की माला के आगे !
क्षण भर बुझे दीप, फिर मानो पागल से हो जागे !

माला पल भर मुग्ध बिसरा कर
पुलक विकल हो तिमिर शिखा पर अपना सब आलोक लुटा कर
होकर निव त,
चेत उठे हो,
नव जीवन में—पर जीवन भी कैसा ? व्यथा एक हो विस्तृत—
विकल वेदना एक प्रकम्पित !

[२]

मन मुझ को कहता है—
मैं हूँ दीपक मैं तेरे हाथों का
मुझे ओट तेरे हाथों की, छू पावे क्या झोंका !

राजा हूँ ऊँचा हूँ—मुझ-सा नहीं दूसरा कोई
फिर भी कभी न हो पाता हूँ साथ तुम्हारे मैं एकाकी—
सब विभूति जाती है खोयी !

केवल तुम्हारे हूँ, फिर भी हूँ एक भीड़ में !

मेरा फीका-सा आलोक
डरते डरते व्यक्त कर रहा तेरी मुख छवि,
पर हा कितना छोटा है मेरा आलोक!

दूसरों का है भाग्य—
सभी मिल दीपमालिका में साकार
नील-अम्बरा तिमिर शिखा को दंत ज्वाला से आकार!

[३]

मैं हूँ खड़ा देखता वह जो सारस गति से चली जा रही
मौन रात्रि में, नीरव गति से दीपों की माला के आगे।
क्षण भर बुझे दीप फिर मानो पागल से हो जागे!

३४

तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान!

तुम हँसो कह दो कि अब उत्सर्ग वर्जित है—
छोड़ दूँ कैसा भला मैं जो अभीप्सित है?
कापवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी—
खोल देने लूटने को पुरुष अधिकारी!

ओस चाहे वह रहे रवि-ताप ही चुक जाय
फूल चाहे लख उसे झंझा स्तिमित रुक जाय!
कूल की सिकता कहे बढ़ती लहर थम जाय
पुरुष स्त्री की तर्जनी से पिघलकर नम जाय!

शक्ति का सहवास खो कर पुरुष मिट्टी है—
पूछता है पुरुष पर वह शक्ति किस की है?
शक्ति के बिन व्यर्थ मेरा दृप्त जीवन-यान
क्या न उस को बाँधने में तब लगूँ तन प्राण?

वद्ध है मम कामना म क्षणिक तेरा हास,
मेघ-उर मे ही बुझेगा दामिनी का लास !
दूर रहने को हृदय म ठानती क्या हो ?
तुम पुष्प की वासना को जानती क्या हो !

मत हँसो नागी, मुझे अपना वशीकृत जान --
तोड दूगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान !

३५

तितली, तितली ! इस फूल से उस पर उस से फिर तीसरे पर, फिर और आगे रगो की शाभा लूटती मधुपान करती, उन्मत्त, उदभ्रान्त तितली !

मरे इस सम्बोधन म उपालम्भ की जलन नही है। तितली ! तुम्हारा जीवन चचल, अस्थिर परिवत्तन से भरा है, तुम दो पल भी एक पुष्प पर नही टिक सकती तुम्हारी रसना एक ही रस के पान से तप्त नही होती, एकव्रत तुम्हार लिए असम्भव है किन्तु यह कह कर मैं प्रवचना का उलाहना नही देना चाहता

तुमने यदि अपना जीवन ससार के अगख्य फूलो को समर्पित कर दिया है तो मैं क्या ईर्ष्या करूँ ? मैंने तुम्हे गध नही दी तुम्हारे लिए मधु नही सचित किया। किन्तु तुम म गध का सौरभ लेने की मधु का स्वादन करने की फूल फूल पर उडने की जो शक्ति है वह तो मैंने ही दी है ! तुम्हारा यह अनिवचनीय सौन्दय तुम्हारे पखो पर के य अवश्य सौन्दयमय रग-- य मरे ही उपहार हैं। फिर मैं तुम्हारी प्रवृत्ति म ईर्ष्या क्या करूँ ?

मैं मानो तुम्हारे जीवन का सूय हूँ। तुम सवत्र उडती हो किन्तु तुम्हारी शक्ति का उत्स, तुम्हारे प्राणो का आधार मैं ही हू--मेरी ही धूप म तुम इठलाती फिरती हो--मैं इसी को प्रतिदान समझता हूँ कि मेरे कारण तुम म इतना सौन्दर्य और इतना मधुर आनन्द प्रकट हो सकता है।
तितली तितली !

मरा पीषा सा आलार
डरत डरत ध्या। कर रहा तरी मुग छवि,
पर हा कितना छाटा है मरा आलाक !

दूसरा सा है भाग्य
सभी मिल दीपमालिका म गारार
नील अम्बरा तिमिर शिखा का ंन ज्वाला सा आकार !

[३]

मैं हूँ उन्मत्त तारा वह जो तारग गति स चली जा रही
मौन रात्रि म, नीरव गति स दीपा की माला क आग।
क्षण भर बुझ दीप फिर मानो पागल स हो जाग !

३४

तोड दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान !

तुम हसा वह दो कि जय उत्सग वर्जित है--
छोड दूँ क्या भला मैं जो अभीप्सित है ?
कापवत् सिमटी रह यह चाहती नारी—
खोल देने लूटन का पुरुष अधिकारी !

ओस चाहे वह रहे रवि-ताप ही चुक जाय
फूल चाहे लख उस झझा स्तिमित रुक जाय !
कूल की सिकता कहे बढती लहर थम जाय
पुरुष स्त्री की तजनी से पिघलकर नम जाय !

शक्ति का सहवास खो कर पुरुष मिट्टी है—
पूछता है पुरुष पर वह शक्ति किस की है ?
शक्ति के बिन व्यथ मेरा दृप्त जीवन यान
क्यो न उस को बाधने म तब लगू तन प्राण ?

वह है मम कामना म क्षणिक तेरा हास,
मेघ उर मे ही बुझेगा दामिनी का लास !
दूर रहने का हृदय मे ठानती क्या हो ?
तुम पुष्प की वासना को जानती क्या हो !

मत हँसो, नारी, मुझे अपना वशीकृत जान —
तान दूगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान !

३५

तितली तितली ! इस फूल से उस पर उस से फिर तीसरे पर फिर और आगे, रगो की शोभा लूटती, मधुपान करती, उन्मत्त उद्भ्रान्त तितली !

मेरे इस सम्बोधन म उपालम्भ की जलन नहीं है। तितली ! तुम्हारा जीवन चचल अस्थिर, परिवर्तन से भरा है तुम दो पल भी एक पुष्प पर नही टिक सकती तुम्हारी रसना एक ही रस के पान से तृप्त नही होती, एकव्रत तुम्हारे लिए असम्भव है किन्तु यह कह कर मैं प्रवचना का उलाहना नही देना चाहता

तुमने यदि अपना जीवन ससार के असख्य फूलो को समर्पित कर दिया है तो मैं क्या ईर्ष्या करूँ ? मैंने तुम्हे गन्ध नही दी तुम्हारे लिए मधु नही सचित किया। किन्तु तुम म गन्ध का सौरभ लेने की, मधु का स्वादन करने की फूल फूल पर उडने की जो शक्ति है वह तो मैंने ही दी है ! तुम्हारा यह अनिर्वचनीय सौन्दय, तुम्हारे पखो पर के ये अक्षय सौन्दयमय रग— ये मेरे ही उपहार हैं। फिर मैं तुम्हारी प्रवृत्ति म ईर्ष्या क्या करूँ ?

मैं मानो तुम्हारे जीवन का सूत्र हूँ। तुम सवत्र उडती हो, किन्तु तुम्हारी शक्ति का उत्स तुम्हारे प्राणो का आधार मैं ही हू—मेरी ही धुन म तुम इठलाती फिरती हो—मैं इसी को प्रतिष्ठा समझता हूँ कि मेरे कारण तुम म इतना सौन्दय और इतना मधुर आनन्द प्रकट हो सकता है।
तितली तितली !

३६

जब तुम हँसती हो, तब तुम मेरे लिए अत्यन्त जघन्य हो जाती हो। तब तुम मेरी समवर्तिनी नहीं किन्तु एक तुच्छ वस्तु रह जाती हो—एक ओछा खोखला खिलौना, एक सुन्दर सुरूप पर निःसत्व क्षार पुंज मात्र!

जब तुम उद्विग्न, दुःखी, तिरस्कृत और दयनीय होती हो तभी मैं तुम्हें अत्यन्त प्रियतमा देख पाता हूं। तभी तुम पर मेरा अत्यन्त ममत्व होता है।

सम्भवतः यह प्रेम नहीं है—सम्भवतः यह केवल एक सामर्थ्यपूर्ण दया भाव मात्र है। पर यही भाव है जो कि तुम्हें मुझ से सम्मिलित किये हुए है

३७

जान लिया तब प्रेम रहा क्या
नीरस प्राणहीन आलिंगन
अर्थहीन ममता की बातें—
अनमिट एक जुगुप्सा का क्षण।
किन्तु प्रेम के आवाहन की
जब तक ओठों में सत्ता है
मिलन हमारा नरक द्वार पर
होवे तो भी चिन्ता क्या है?

३८

जब मैं तुम से विलग होता हूं तभी मुझे अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है।

जब तुम मेरे सामने उपस्थित नहीं होती तभी मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेम का परिमाण जान पाता हूं।

जब तुम दुःखित होती हो तभी मुझे यह अनुभव होता है कि तुम्हें

प्रसन्न रखना मेरे जीवन का कितना गौरवपूर्ण उद्देश्य है।

जब मैं तुम्हारे प्यार से वंचित होता हूँ तभी यह संज्ञा जाग्रत होती है कि मेरे हृदय पर तुम्हारा आधिपत्य कितना आत्यंतिक है।

क्या कि तुम्हें पा लेने पर तो मैं रहता ही नहीं।

मैं उस पक्षी की तरह हूँ जो यह जानने के लिए कि उस का नीड़ कितना सुरक्षित है, बार-बार उस से उड़ जाता हूँ और दूर से उस का ध्यान किया करता हूँ।

३६

मैंने अपने-आप को सम्पूर्णतः तुम्हें दे दिया है। पर तुम और मैं अत्यन्त एकत्व नहीं प्राप्त कर सके।

हम मानो एक अगाध समुद्र में उतरे हुए दो गोताख़ोर हैं। संसार की दृष्टि हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है—क्योंकि संसार हमें नहीं देखता वह देखता है केवल उस प्रशान्त समुद्र की असीम विछलन को, जिस की सीमा छूना ही उस की एकता है।

पर हम-तुम—हम तुम एक दूसरे को देख सकते हैं और देखते हुए अपना अलगाव जानते हैं। संसार की दृष्टि से बहुत परे आ कर हम एक दूसरे से अलग हो गये हैं—और जो जल हम संसार की दृष्टि में एक करता है वही हमारे मध्य में है और हमारे विभेद का आधार हो रहा है।

मैंने अपने आप को सम्पूर्णतः तुम्हें दे दिया है पर तुम और मैं अत्यन्त एकत्व नहीं प्राप्त कर सके।

४०

हा वह राग! हाय वह चुम्बन!
किस ने किस का था वह प्रणय मिलन—
किया था किस का मैंने चुम्बन!

तेरा या तेरे कपोल का
या उस पर आँसू जमाल का
या जो उस आँसू के पीछे छिपी हुई थी विरह-जलन ?
किया था किस का मैंने चुम्बन ?

या कि—आज सच ही सच कह दूं
अपना सशय सम्मुख रख दूं !—
तेरे मृदु कपोल पर ढलके
विरह जलन के आसू छलके—
तेरी विरह-जलन के पीछे सोयी थी जो मेरी छाया
आज उसी को ले कर मैंने अपना आप भुलाया ?

अपने से अपना था प्रणय मिलन—
किया था किस का मैंने चुम्बन ?
हा वह प्रणय ! हाय वह चुम्बन !

४१

तुम जो सूर्य को जीवन देती हो किन्तु उस की किरणो की आभा हर लेती हो तुम कौन हो ?

तुम्हारे बिना जीवन निरथक है तुम्हारे बिना आनन्द का अस्तित्व नहीं है। किन्तु तुम्हीं हो जो प्रत्येक घटना म प्रत्येक दिवस और क्षण म [illegible] का सूत्र बुन देती हो तुम्ही हो जो कि कृतित्व का गौरव नष्ट कर देती हो तुम्ही हो जो विश्व की पहेली का अथ समझ कर हम उस से वचित कर रखती हो !

४२

तुम देवी हो नहीं न मैं ही देवी का आराधक हूँ
तुम हो केवल तुम मैं भी बस एक अकिंचन साधक हूँ।
धरती पर निरीह गति से हम पथ अपना हैं नाप रहे—
आगे खड़ा काल कहता है मैं विधि मैं ही बाधक हूँ !

विश्व हमारा दिन दिन घिर कर सँकरा होता आता है
प्राणों का आहत पंछी दो पग नहीं उड़ पाता है।
किन्तु कभी बन्धन की कुण्ठा धर सकी नभ का विस्तार?
उस का विनाद मुक्ति आवाहन तीखा होता जाता है!

लड़ना ही मेरा गौरव मैं रण म विजयासक्त नहीं
अपने को देने आया मैं वर का भूखा भक्त नहीं।
नहीं पसीजा, अवहेला म भी पनपेगा मेरा प्यार—
क्या घुट घुट मरने वाला वे उर होते आरक्त नहीं?

क्षण आते हैं जाते हैं जीवन-गति चलती जाती है—
आठ अनमने रहें श्वास की मदिरा ढलती जाती है।
घुम घुमड़ता है फिर भी तम पट फटता ही जाता है—
स्नेह बिना भी इस प्रदीप की बाती जलती जाती है!

४३

तुम म यह क्या है जिस से मैं डरता हूँ और घृणा करता हूँ? यह सहल छाया क्या है जिस को भेद कर मेरी दृष्टि पार तक नहीं देख सकती?

क्या यह केवल तुम्हारे गत जीवन की ही छाया है केवल तुम्हारे जीवन का एक अंग जिस पर मेरे जीवन की छाप नहीं पड़ी—एक अंग जिस पर दूसरों का अधिकार रहा है और जिस म तुमने दूसरों का प्यार पाया है? क्या यह तुम्हारे स्वतन्त्र और विशिष्ट आत्मा के प्रति ईर्ष्या है केवल ईर्ष्या?

किन्तु मैं तुम्हारे उस गत जीवन और नष्ट प्रेम से क्या ईर्ष्या करूँ जिसे तुमने मेरे जीवन और मेरे प्रणय के आगे ठुकरा दिया है?

मैं विजयी हूँ मैंने तुम्हारे भूत वर्तमान, भविष्य को जीत लिया है तुम्हारी इस शरीर रूपी दिव्य विभूति पर अधिकार कर लिया है पर अभी तक इस तत्त्व को नहीं पा सका, नहीं समझ सका।

[२]

यह इतना नहीं इस से कहीं अधिक है। तुम में कोई क्रूर और कठोर तत्त्व है—तुम निर्दय लालसाओं की एक सहज राशि हो।

यही है जो कि स्वाभाविक मानो मेरा गला पकड़ लेता है मेरे मुख में प्यार के शब्दों को मूक कर देता है—यहाँ तक कि मैं तुम से भी अपना मुख छिपा कर अपने ओठों को तुम्हारे सुगन्धित केशों में दबा कर अस्पष्ट स्वर में अपनी वासना की बात कहता हूँ वह भी नहीं पाता केवल अपने उत्तप्त श्वास की आग में अपना आशय तुम्हारे मस्तिष्क पर दाग देता हूँ।

यही जुगुप्सापूर्ण और रहस्यमयी बात है जिस के कारण मैं तुम्हारे प्रेम के निश्छल आलाप में भी डरता रहता हूँ

६४

मैं अब सत्य को छिपा नहीं सकता।

मैं चाहता हूँ यह विश्वास कर सकूँ कि तुममें व्यथा का अनुभव करने का सामर्थ्य ही नहीं है क्योंकि मेरा अपना हृदय टूट गया है, और मैं अधिक नहीं सह सकता।

मेरी इच्छा है कि तुम्हें क्रूर और अत्याचारी समझ सकूँ क्योंकि मेरा उद्धार इसी विश्वास में है कि मैं तुम्हारी बलि हूँ।

हमने—मैंने और तुमने—जो भयङ्कर भूल की है उस से बचने का इस के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

[२]

यह छिपाये छिपता नहीं। मुझे सत्य कहना ही पड़ेगा क्योंकि वह मेरे अन्तस्तल को भस्म कर के भी अदम्य अग्निशिखा की भाँति प्रकट होगा।

तुम्हारी दुःखित अभिमान भरी आँखों में मेरी आँखें वह तमिस्र

ममार दख सकती हैं जो कि फूट निकलना चाहता है किंतु मकता नहीं।

तुम्हार फिर हुए मुख पर भी मैं पीडा की रखाएँ अनुभव कर मकता हूँ—वे रखाएँ जा कि मेरे अपन दुखा की चेतना पर अपना चिह्न बिठा जाती हैं।

मैं भी क्रूर और अत्याचारी हूँ मेरा हृदय भी वज्र की भाति अनुभूतिहीन है। यही सत्य की नग्न वास्तविकता है।

[३]

मैं अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए बलि हा जाना चाहता हूँ।
तुम मेरे बलिदान का खाखलापन दिखा कर मेरी हत्या कर रही हा।

हम दाना एक-दूसर के आखेट ह और अनिवाय, अटल मनानियाग से एक दूसरे का पीछा कर रह हैं।

४५

जीवन का माणिक्य आज मैं क्या खा डालू ?
उर म सचित करुणानिधि का क्या खा डालू ?

कहा कौन है जिस का है मरी भी कुछ परवाह—
जिम के उर म मरी कृतिया जगा सकें उत्साह ?

विश्व-नगर की गलिया म खोये कुत्ते-सा
झझा की प्रमत्त गति म उलझे पत्ते-सा

टूटा आज इस घृणापात्र का जान भी दा टूट—
भव-बन्धन मे साभिमान ही पा लने दो छूट।

हम एक हैं। हमारा प्रथम मिलन बहुत पहले हो चुका—इतना पहले कि हम अनुमान भी नहीं लगा सकते। हम जन्म-जन्मान्तर के प्रणयी हैं।

फिर इतना वैषम्य क्यों ? क्या इतने कल्पों में भी हम एक-दूसरे को नहीं समझ पाये ?

प्रेम में तो अनन्त सहानुभूति और प्रज्ञा होती है वह तो क्षण भर में परस्पर भावों को समझ लेता है फिर इतने चिरमिलन के बाद भी यह अलगाव का भाव क्यों ?

[२]

यह एक कल्पना है किन्तु इस काल्पनिक सिद्धान्त की पुष्टि जीवन की अनेक घटनाएँ करती हैं।

विधाता ने प्रेम रज्जु में एक विचित्र गाँठ लगा रखी है—जो सदा अटकी रहती है। चिरकाल के प्रेमियों में भी एक स्वभाव-वैषम्य रहता है—जिसे दोनों समय कर भी दूर नहीं कर सकते। यही उनके प्रणय की दृढ़ता और उस की कमजोरी है।

यह उन्हें जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे की ओर आकर्षित करता है पर कैवल्य नहीं प्राप्त करने देता। जब वे एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ जाते हैं तब वह प्रकट हो कर उन्हें फिर विलग कर देता है और आकर्षण की क्रिया पुनः आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार सान्निध्य और दूरत्व में मिलन और विच्छेद में जन्म के बाद जन्म युग के बाद युग कल्प के बाद कल्प बीत जाते हैं। और एक चिरंतन नित्य तृष्णा की तरह दोनों आत्माएँ एक-दूसरे की चाह में छटपटाती रहती हैं और प्रेम के ज्वालामय अमृत का विषाक्त शान्ति का पान करती रहती हैं

परमाणु के केन्द्रक के आसपास इलक्ट्रन की परिक्रमा से ले कर विश्वकर्मा की सर्वोत्कृष्ट कृति मानव हृदय की क्रियाओं तक में यही तथ्य निहित है

४७

अपने प्रेम के उद्वेग म मैं जा कुछ भी तुम स कहता हूँ, वह सव पहल कहा जा चुका है।

तुम्हारे प्रति मैं जो कुछ भी प्रणय-व्यवहार करना हू वह मव भी पहले हो चुका है।

तुम्हारे और मेरे बीच म जा कुछ भा घटित हाता है उस स एक ताक्षण वेदना भरी अनुभूति मात्र हानी है—कि यह सव पुराना है, बीत चुका है कि यह अभिनय तुम्हार ही जीवन म मुझ से अन्य किसी पात्र के साथ हा चुका है।

यह प्रेम एकाएक कसा खोखला और निरथक हा जाता है!

४८

छलने! तुम्हारी मुद्रा खाटी है।

तुम मुझे यह झूठे सुवण की मुद्रा देते हुए अपने मुख पर एसा दिव्य भाव स्थापित किय खडी हो! और मैं तुम्हार हृदय म भरे असत्य का समझते हुए भी चुपचाप तुम्हारी दी हुई मुद्रा को स्वाकार कर लेता हूँ।

इस लिए नहा कि तुम्हारी आकृति मुझे मोह म डाल देती है—केवल इस लिए कि तुम्हार असत्य कहने की प्रकाण्ड निलज्जता का देख कर मैं अवाक और स्तिमित हा गया हूँ।

४६

चुक गया दिन'—एक लम्बी साँस
उठी बनन मूक आशीर्वाद—
गामन था आद्र तारा नील
उमड आयी असह तेरी याद!
हाय यह प्रति दिन पराजय दिन छिप के बाद!

इन्दु-तुल्य शोभने, तुषार शीतल !
हीरक-सी थी तू अतिशय ज्योतिमय
तेरी उस आभा ने मुझे भुलाया ।
हीरक है पाषाण—अधिक काठिन्यमय !
आज जान मैं पाया !
आज—दर्प जब चूर्ण हो चुका तेरे चरण तल ।
इन्दु तुल्य शोभने तुषार शीतल ।

बार बार अब आ कर कहता संशय—
तू नत था इस वज्र खंड के सम्मुख ?
मैं था ? या प्राणों में कोई दानव दुर्जय
दुर्निवार प्रलयोन्मुख ।
अब जब मेरे जीवन दीपक बुझ-बुझ सभी चले ।
इन्दु-तुल्य शोभने तुषार शीतले ।

[२]

किन्तु छलूं क्या अपने को फिर ?
दानव की छाया में अपनी हार छिपाऊं ?
मैं ही था वह तेरी पूजा को चिर-तत्पर
क्यों इस स्वीकृति से घबराऊं ?
मैं हूँ छलित किन्तु जीवन आरम्भ तभी जब जाय छल।
इन्दु-तुल्य शोभने तुषार शीतले ।

मेरे लिए आज तू पुंजीभूता तड़पन
फिर भी मेरा मस्तक गौरव उन्नत ।
अथक प्रयोगों ही में बसता जीवन
साहस को करती है हार प्रमाणित ।
मम विजयी पीड़ा की व्यंजक अरी पराजय प्रोज्वले
इन्दु-तुल्य शोभने तुषार शीतले ।

[३]

मैं था कलाकार, सवतोमुखी निज क्षमता का अभिमानी।
मेरे उर मे धधक रही थी अविरन एक अप्रतिम ज्वाला।
तुझे देख कर मुझे कला न ही ललकारा—
तू विजयी यदि इस प्रस्तर प्रतिमा म तून जीवन डाला।

नीपन की ज्योतिर्मालाए प्रोज्वन तेज पुज उठाये
मैंने देखा, तरा कण-कण किसी दीप्ति से दमक रहा था।
तुष्ट हुआ मैं—हाय दप । अब जाना मैंने—
वह तो प्रतिज्योति से तेरा स्निग्ध वाह्य पट चमक रहा था।

सुन्दरता है वडी कला से। हार हुई मैं भुगत रहा हूँ,
किन्तु विधाता का उपहास भरा अयाय हुआ यह कसा?
किन्तु विधाता की चिनगारी तक भी तुझ मे जागी—
प्रस्तर । नही एक चिनगारी तक भी तुझ मे जागी—
पर मेरे उर म चुभता है स्पदित शिलाखड यह कसा।
पुष्प-वन्त तुल्य रम्य लौह शृखले।
इन्दु-तुल्य शोभने तुषार शीतले।

५१

मै तुम्हे किसी भी वस्तु की असूया नही करता—किन्तु तुम सब कुछ ले कर चली भर जाओ मरे जीवन म से सदा के लिए लुप्त हो जाओ।

तुमने मुझे वेदना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया मुझ म वही वेदना जम कर और वद्धमान हो कर पुष्पित हो गयी है।

तुम चाहो तो उन पुष्पो को ताड ले जाओ जो वस्तु मैंने अपने जीवन की अग्नि म तपा कर और भस्म कर के सिद्ध की है उस अभिमान पूर्वक मदप ले जाओ जसे कोई सम्राज्ञी किसी दास का तुच्छ उपहार ग्रहण करती है—किन्तु ले कर फिर वम चली भर जाओ मरे जीवन के क्षितिज से परे जहाँ तुम्हारे उत्ताप का आलाव भी मरे दृष्टिगोचर न हो।

५२

इस प्रलयकर कोलाहल मे
मूक हो गया क्या तेरा स्वर ?
एक चोट मे जान गया मैं—
यह जीवन अणु कितना किंकर!
झुकने का जीवन के प्यारे
इस मेरे अभिमानी मन को –
आओ तो ओ मेरे अपने
चाहे आज मृत्यु ही बन कर !

५३

बाहर थी तब राका छिटकी !
यदि तेरा इंगित भर पाता
क्या विभ्रम मे बाहर आता ?
प्रेयसि ! तुम ही कुछ कह देती
तब जब थी मेरी मति भटकी!

पुरुष ? तब का कठपुतला भर
स्त्री—असीम का अन्त निर्झर!
पर मै तब भी रोया था यद्यपि
मेरी जिह्वा थी अटकी !

बाहर रूठ चला मै आया—
अब जाना खोया था पाया—
जब जब एक असीम रिक्तता
प्राणो के मन्दिर मे खटकी !
बाहर थी तब राका छिटकी !

वह प्रेत है उस म तक करन की शक्ति नही है। जिस भावना का ले कर वह इस रूप म आया है, उस अब दूर करन म वह असमर्थ है।

किन्तु जितनी अच्छी तरह वह इस पूर्व भावना की सहायता स अपने को समझ सकता है उस से कही अधिक अच्छी तरह उस की एक अप्रकट मना उसे समझती है

तुम उसे कितनी प्रिय थी—फिर क्यो उस के इच्छाकाल म नही आयी ?

अब चली जाओ। समय पर तुम्हारे न आने स जितना कष्ट हुआ था उस से कही अधिक तुम्हारे अब आने स हो रहा है। यदि इस के आघात की इयत्ता को वह नही जानता, तो केवल इसी लिए कि वह प्रेत है।

वह अब आकृष्ट नहीं होता—यद्यपि उस म विरक्ति भी नही है ग्लानि भी नहीं। उस म है केवल अपने पूर्व रूप की एक भावना—कि तुम अप्राप्य हो इच्छा करने पर भी नही मिलोगी कि उस का सारा आकाश भर कर भी तुम सहसा चली जाओगी। इस से अपनी रक्षा के लिए ही वह कवच धारण किये खड़ा है।

वह जो ससार की विभूति को पाकर भी मिवता-क्षण स ध्यान नही हटा पाता उस का यही कारण है।

१५

क्षण भर पहले ही आ जाते।
प्राण-सुधा का क्या तुम तब ऐसी बिखरी ही पाते।
भरी भरी आँखों के प्यासे प्यास सूने आँसू—
नहीं तुम्हारे ही चरणों क्या लोट लोट लुट जाते।
हाय तुम्हारे पथ म आखें अनचिप बिछ बिछ जाती—
आँसू उड-उडकर समीर म परिमल-से छा जाते।
उर म होता क्यो अवसाद ? सिसकती अगणित आहें।

विश्वप्रिया

तब तो मेरे प्राण प्राण भर अपने में न समाते!
आज लग रहा क्षण-क्षण युग सा पर यदि—यदि कुछ होता
इस क्षण में ही कितने युग युग हाय क्षणिक हो जाते!

देखे हैं क्या कभी शिशिर के सूखे पत्ते—
मधु में मधु के एक घूँट के लिए तरसते?
विफल प्रतीक्षा में ही उन के गुनगुने रहे हैं प्राण
क्षण भर—फिर एकाएकी हो जाता उन का जीवन म्लान!
फिर यदि माधव आया—क्या आया!
मलय-समीरण लाया—क्या लाया?
जीवन की असफलता का है यह निर्णायक—
वही एक क्षण उन का भाग्य विधायक!
क्षण भर पहले—चरणों में आ कर मरते हैं—
क्षण भर पीछे—चरणों में मर कर गिरते हैं!

उसे सोच लो मुझे देख लो और मौन रह जाओ—
यह मत पूछो क्षण भर पहले तुम मुझ को क्या पाते?
क्षण भर पहले ही आ जाते!

५६

देवता! मैंने चिरकाल तक तुम्हारी पूजा की है। किन्तु मैं तुम्हारे आगे वरदान का प्रार्थी नहीं हूँ।

मैंने घोर क्लेश और यातना सह कर पूजा की थी। किंतु अब मुझे दर्शन करने का भी उत्साह नहीं रहा। पूजा करते करते मेरा शरीर जर्जर हो गया है अब मुझ में तुम्हारे वरदान का भार सहने की क्षमता नहीं रही।

मैंने तुम्हें अपनी आराधना से प्रसन्न भर कर लिया है। अब अत्यन्त जर्जर हो गया हूँ और कुछ चाहता नहीं किंतु पूर्वाभ्यास के कारण अब भी आराधना किये जा रहा हूँ।

मैं अपने अपनेपन से मुक्त हो कर, निरपेक्ष भाव से अपने जीवन का पर्यवलोकन कर रहा हूँ।

एक विस्तृत जाल में एक चिड़िया फँसी हुई छटपटा रही है। पास ही व्याध खड़ा उद्दण्ड भाव से हँस रहा है।

चिड़िया का फँसी और छटपटाती देख कर मुझे पीड़ा और समवेदना नहीं होती, मैं स्वयं वह चिड़िया नहीं हूँ। न ही मुझे सन्ताप और आह्लाद होता है—मैं व्याध नहीं हूँ। मुझे किसी से भी सहानुभूति नहीं है। मैं तुम्हारी माया के जाल को दूर से देखनेवाला एक दर्शक हूँ।

मैं अपने अपनेपन से मुक्त हो कर निरपेक्ष भाव से अपने जीवन का पर्यवलोकन कर रहा हूँ।

५८

कल मुझ में उन्माद जगा था आज व्यथा निःस्पन्द पड़ी—
कल आरक्त लता फूली थी पत्ती-पत्ती आज झड़ी।
कल दुर्दम्य भूख से तुझ को माँग रहे थे मेरे प्राण—
आज आप्त तू, दात्री, मेरे आगे दाता बनी खड़ी।

अपना भूत रौंद पैरों से, सुन विश्वास की असह पुकार—
अपनों को ठुकरा कर मात्र पुरुष आया था तेरे द्वार।
तू भी उतनी ही असहाया, उसी प्रेरणा से आक्रान्त—
तुझ में भी तब जगा हुआ था वह ज्वालामय हाहाकार!

वह कल था जब आगे था भावी, प्राणों में थी ज्वाला—
आज पड़ा है उसके पृष्ठों पर तम का पट घन काला!
वह यौवन था, जिस के मद में दोनों ने उन्मत्त हो कर—
इच्छा के झिलमिल प्याले में अनुभव हालाहल ढाला!

अमर प्रेम है कहते हैं तब यह उत्थान-पतन कैसा?
स्थिर है उस की नींव तब यह चिर-अस्थिर पागलपन कैसा?

वह है यत्न जो कि श्वासो की अविरल आहुतियाँ पा कर—
जला निरन्तर करता है तब यह बुझने का क्षण कसा ?

सोचा था जग के सम्मुख आदश नया हम लाते हैं—
नही जानता था कि प्यार म जग ही को दुहराते है।
जग है हम है हागे भी पर बना रहा कब किस का प्यार ?
केवल इस उलझन के बधन म बध भर हम जाते हैं!

कल ज्वाला थी जहा आज यह राख दबी चिनगारी है
कल देने की स्वेच्छा थी अब लने की लाचारी है।
स्वतन्त्रता म कसक न थी बधन म है उमाद नही—
रो रो निये आज आयी हस-हस मरने की बारी है!

कल था आज हुआ है कल फिर होगा है शब्दो के जाल—
मिथ्या जिन की माहकता म हम को बाध रहा है काल।
फिर भी सत्य मागते है हम सब स बढ कर है यह झूठ—
सत्य चिरन्तन है भव के पीछ जा हसता है कंकाल!

५६

मैं आम के वक्ष की छाया म लटा हुआ हूँ। कभी आकाश की आर दखता हूँ कभी वक्ष म फूटती हुई छोटी छोटी आमियों की ओर। किन्तु मरा मन शून्य है।

मर मन म कोई साकार कल्पना नही जाग्रत होती। मैं मानो एकाग्र हो कर किसी वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ किन्तु वह वस्तु क्या है यह मैं स्वय नही जानता। मैं असम्बद्ध रीति पर भी कुछ नही सोच पाता स्थूल वस्तुओं का जो प्रतिबिम्ब मरी आँखो म बनता है उस की अनुभूति मर मस्तिष्क को नही होती। मैं मानो निर्लिप्त निर्विकार पड़ा हुआ हूँ—समाधिस्थ बैठा हूँ।

किन्तु इस समाधि स मर मन को शान्ति या विश्राम नही प्राप्त होता

मेरी मन शक्ति म वद्धि नही होती । मैं केवल एक क्षीण उद्वेग से भरा रह जाता हूँ ।

यह एक जड अवस्था है, इस लिए इस म स्थायित्व नही हो सकता । आज ऐसा हूँ कल मेरा मन एकाएक जाग उठेगा और अपनी सामान्य दिनचर्य्या म लग जायगा । जागने पर भी उस मे वह पूववत स्फूर्ति नही आयगी, वह असाधारण, प्रकाड चेष्टा करने की इच्छा नही होगी । केवल एक आन्तरिक अशान्ति, एक उग्र दुदमनीय कामना फिर जाग उठेगी और उस की पूर्ति को असम्भव जानते हुए भी मैं विवश हो जाऊगा उन्मत्त सा इधर उधर भटकने लगूगा ।

किन्तु वह अवस्था चेतन होगी, इस लिए उसमे स्थायित्व भी होगा ।

६०

स्वगगा की महानता म
अप्रतिहत गति से प्रतिकूल दिशा म
चले जा रहे थे दो तारे ।

दोनो एकाएक परस्पर
आकर्षित हो वद्धमान गति से निज पथ से हट कर
खिचे चले आये बचारे ।

प्रेरित शक्ति रहस्यमयी-से हो कर
प्रतिकूलता भुला कर निज स्वाभाविक गति को खो कर
नियति वज्र के मारे ।

अति समीप आ दोनो पहुँचे
अपनी गति से जनित तेज को नही सह सके
पिघले—भस्म हो गये—क्षार हो गये सारे ।

क्षार-पुज भी शीघ्र खो गया शून्य व्योम मे ।

व्यजक उन क प्रबल प्रणय का
एकमात्र स्मति चिह रहा क्या ?
नीरव प्राज्वल एक क्षणिक विस्फाट मात्र !

उस के बाद ? वही स्वगंगा का प्रवाह
तिरस्कार से भरा—निश्चला अमा रात्रि !

हम-तुम भी—प्रतिकूल प्रकृतियाँ
विषम स्वभाव, और अति उत्कट रुचियाँ—
किस अज्ञात प्रेरणा स दोनो थे खिच चल आये—
कितना निकट चले आये !
किन्तु न अपन प्रणय-तज को भी सह पाये —
शून्य म गये भुलाये !

६१

दीप बुझ चुका दीपन की स्मति
शून्य जगत म छूट जायगी
टूटे वीणा तार पवन म
कम्पन लय भी लुट जायगी
मधुर सुमन सौरभ लहरें भी
होंगी मूक भूत के सपने—
कौन जगायगा तब यह स्मति—
कभी रहे तुम मेरे अपने ?

तारा-कम्पन ? नित्य नित्य वह
दिन होते ही खो जाता है—
सलिला का कलरव भी सागर
तट पर नीरव हो जाता है
पुष्प समीरण जीवन निधियाँ—
तुम म उलझेंगी क्या सब ये—

भूले हुए किसी की कसक
जगा कर दीप्त करेंगी कचय!

पर, ऐसे भी दिन होंगे जब
स्मृति भी मूक हो चुकी होगी?
जब स्मृति की पीडा भी अपना
अन्तिम अश्रु रो चुकी होगी?
उर मे कर सने का अनुभव
किसी व्यथा से आहत हो कर—
मैं सोचूगा, कब, कसे
किसने बोया था इस का अकुर!

और नही पाऊँगा उत्तर—
हाय, नही पाऊगा उत्तर!

६२

मैं केवल एक सखा चाहता था।

मेरे हृदय म अनको के लिए पर्य्याप्त स्थान था। ससार मेरे मित्रो से भरा पडा था। किन्तु यही तो विडम्बना थी—मैं असख्य मित्र नही चाहता था, मैं चाहता था केवल एक सखा!

नियति ने मुझे वचित रखा। इस लिए नही कि मैंने कामना नहीं की या खोज म यत्नशील नहीं हुआ। कितनी उग्र कामना की थी! और प्रयत्न? मैंने इसी खोज म विश्व छान डाला और आज यहाँ हूँ

[२]

नहीं, नियति को दोष क्या दू? कारण कुछ और था।

मेरे ही हृदय म कुछ एसा कठोर ऐसा अस्पृश्य एसा प्रतारणापूर्ण निष्पक्ष था वह कठोर था, किन्तु सूक्ष्म, निराकार था किन्तु अभद्य मेरे समीप आकर भी कोई मुझ से अभिन्न नही हो सकता था। उस अभेद्य मरु पर किसी का कुछ प्रभाव नही पडता था

वह था क्या ? अहकार ?

नही, वह था अपने बल का अदम्य अभिमान कि मैं केवल पुरुष नही केवल मानव नही, एक स्वतन्त्र और सक्रिय शक्ति हूँ।

[३]

पता नही कैसे तुम मेरे बहुत समीप आ पायी थी और उस अस्थायी अत्यन्त सान्निध्य म मैं काप गया था। किन्तु तुम कितनी जल्दी परे चली गयी ?

मेरा जीवन क्या हो सकता है यह देख कर मैं फिर अपने पुराने भव म लौट आया हूँ। मुझे वह प्राण सखा नही मिला।

कितना अच्छा होता अगर य मित्र भी न मिलते अगर इस आशिक पूर्ति से वह अनन्त अपूर्ति की सत्ता अधिक जाग्रत न हो पाती !

[४]

हमारी कल्पना के प्रेम म और हमारी इच्छा के प्रेम म कितना विभेद है। !

दो पत्थर तीव्रगति से आ कर एक दूसरे से टकराते हैं तो दोनो का आकार परिवर्तित हो जाता है। किन्तु वे एक नही हो जाते। प्रतिक्रिया के कारण एक-दूसरे से परे हट कर फिर स्थिर हो जाते हैं।

तो फिर हमारी प्रेम की कल्पना म क्या इस अत्यन्त एक्य- कैवल्य--- की कामना रहती है ?

बिना स्वतन्त्र अस्तित्व रखे प्रेम नही होता। यदि मैं अपने को तुम म खो दू तो तुम से प्रेम नही कर सकूगा। वह केवल प्रेम की ज्वाला से बच भागने का एक साधन है

किन्तु ज्ञान की इस प्रखर किरण से भी अप्राप्ति का वह दुर्भेद्य अन्धकार कैसे मिटाऊँ ?

६३

जीवन बीता जा रहा है। प्रत्येक वस्तु बीती जा रही है।

हमने कामना की थी वह बीत गयी। हमने प्रेम करना आरम्भ किया पर वह भी बीत गया। हम विमुख हो गये एक-दूसरे से घृणा करने लगे

फिर उस की भी निरथकता प्रकट हुई और फिर वह भान भी बीत गया।

शीघ्र ही हम भी बीत जायँगे, तुम और मैं। शीघ्र इस जीवन का ही अन्त हो जायगा।

किन्तु इस अनन्त नश्वरता म एक तथ्य रह जायेगा—नकारात्मक तथ्य किन्तु तथ्य—कि एक क्षण भर के लिए हम-तुम इस निरथक तुमुल के अश नहीं रहे थे कि उस क्षण भर के लिए हम-तुम दोनो न अपने को पूणतया मटियामेट कर लिया था।

६४

इस परित्यक्त केंचुल की ओर घूम घूम कर मत देखो। यह अब तुम्हारा शरीर नही है।

अपन नये शरीर म चेतनामय स्फूर्ति के स्पदन का अनुभव करो, शिराओ म उत्तप्त रक्त की ध्वनि सुनो, अपनी आकृति म अभिमान पूण पौरुष को देखो! यह सब पा कर भी क्या तुम उस निर्जीव लोथ से, जिस का तुमन परित्याग कर दिया है, अपने मन को नही हटा सकते?

अपन विध्वस्त निवास का अब ध्यान मत करो।

नसर्गिक कृति के विशाल प्रस्तार को देखो शीतल पवन के तीक्ष्ण मनुहार का अनुभव करो, उन्मत्त गजराज की तरह बढते हुए जल प्रपातो का रव सुनो और उस म अपना नया वासस्थान पहचानो!

अपन पुराने विध्वस्त निवास के निरथक भग्नखडो की ओर इस लालसापूण दृष्टि से मत देखो!

६५

नही देखने को उस का मुख
अब किञ्चित भी हो तुम उत्सुक,
फिर क्या प्रणयी, निकट जान कर
उस का हो उठते हो चचल?

क्या केवल आँखों में संचित
दृप्त व्यथा कर हो न प्रस्तुत,
जिस से वह न जानने पाये
हृदय तुम्हारे का कोलाहल !

पूर्व प्रेम जब भुला चुके हो
आकर्षण को भुला चुके हो
फिर क्या प्रणयी विजन स्थलों में
उस से मिलन को हो व्याकुल ?

केवल उसे समीप देख कर
मूक दर्प से आँख फेर कर
बढ़ चले जाने को ठुकराते
चिर परिचय को ओ पागल ?

प्रणयी ! समझे होगे जल के नीचे होगा ही सागर-तल—
कब जानोगे सागर-तल में ज्वलित सदा रहता बड़वानल ?

६६

मेरे गायन की तान टूट गयी है।

मैं चुप हूँ पर मेरा गायन समाप्त नहीं हुआ केवल तान मध्य में टूट गयी है।

मुझे याद नहीं आता कि मैं क्या गा रहा था—कि तान कहाँ टूट गयी। और जितना ही याद करता हूँ उतना ही अधिक वह भूलती जाती है और उतना ही मेरी उतावली अधिक उलझती जाती है।

पर मैं अभी क्षण भर में उसे खोज लूँगा।
वह भूलेगी कैसे ? मैंने ही तो उसे अभी गाया था !

तेरे द्वार पर तो मैं केवल इस लिए खड़ा हूँ कि शायद तू कभी किसी भावातिरेक में एकाएक वही गा उठ जो मैं गा रहा था—और तब मैं भूली

हुई तान फिर याद कर के गाने लगू —और चिरकाल तक गाता जाऊँ !

मेरे गायन की तान टूट गयी है।

६७

ऊषा अनागता पर प्राची
म जगमग तारा एकाकी,
चेत उठा है शिथिल समीरण
मैं अनिमिष हो देख रहा हूँ यह रचना भैरव छविमान !

दूर कही पर, ग्ेल कूकती
पीपल मे परमता हूकती,
स्वर-तरग का यह सम्मिश्रण
जाग जगा जगा क्या जाता उर मे विश्व-स्नेह का गान !

वस्तु मात्र की सुन्दरता स,
जीवन की कोमल कविता से,
भरा छलकता मेरा अन्तर—
किन्तु विश्व की, इस विपुला आभा म कही न तेरा स्थान !

भुला भुला देती यह माया
कहा तुझे मैं हूँ खो आया—
यत्पि साचता बडे यत्न से
बिखर बिखर जात विचार हैं पा कर यह आकाश महान !

६८

मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एकमात्र दीप हूँ।

श्मशान भूमि के पास ही गाँव के भाले भाले लाग अपने अचल से दीपक छिपाये हुए आ‍ते हैं और उन के आलोक से अपने प्रियजनो की समा

दु ख क्सा ? मोह क्यो ? क्या
सोचता अपना पराया ?
वेधडक हो साथ ले चल
जो कभी तू साथ लाया ।
ज़िन्दगी के प्रथम क्षण म
चीख कर तू रो उठा था—
आज भी क्या वह क्लपना
हो तुझे क्स याद आया ?

हाँ जगत तरे विना
आवाद वसा ही रहगा—
दूसरो के कान म वह
दास्ताँ अपनी क्हगा ।
तू न मुड मुड देख धीरज
धार अब अपन हृदय म—
कौन आ कर हाथ तरा
इस निविड पथ पर गहेगा ?

घूम कर पथ देखने वाले
अनेको और आये—
मूक हो क्र बढ गय, सब
एक आसू बिन गिराये
भर नज़र लख जान लेत
वे कि यह हो क्र रहेगा—
कौन कैसे लौट सक्ता
काल जब आग बुलाये ?

पथ स्वय ही काल है गुरु
और शासक भी वही है
उस तरुण के वृद्ध हाथा
मे खिलौना-सी मही है ।

विश्वप्रिया

धीर गति स वह यन्त्रता
जा रहा नित मल व पट —
चिन्ता पर उस चतुर की
आज तक यवनी रही है ।

जन्म जाने मूढ । तूने
कौन सा तम म लिया था
किस अधेरी रात म
अभिसार का अभिनय किया था ।
आज गर्वित स्नेह क तू
काप माल उदार हो जा —
जोड मत अब साच मत अब
क्या किसे तूने दिया था ।

ज्योति अति तम जब जला ले दो घडी कर ले उजेला —
आज चल रे तू अकेला ।

७०

मर आगे तुम एसे खडी हो मानो विद्युत्कणो का एक पुज साकार हो कर खडा हो । तुम वास्तविक होती हुई भी वास्तविक नही जान पडती— क्योकि तुम म स्थायित्व नही है ।

फिर भी मेरे अन्दर कोई शक्ति तुम्हारी ओर आकृष्ट होती है और तुम्हे सामने देख कर तुम से सान्निध्य का अनुभव न करते हुए, तुम्हे न जानते हुए भी मेरे अ त सागर म उथल पुथल मचा देती है ।

[२]

मैं तुम्हे जानता नही ।

तुम किसी पूर्व परिचय की याद दिलाती हो पर मैं बहुत प्रयत्न करने पर भी तुम्हे नही पहचान पाता ।

मुझे नया जीवन प्राप्त हुआ है । कभी-कभी मन म एक अत्यन्त क्षीण भावना उठती है कि जिस पक से निकल कर मैंने यह नवीन जीवन प्राप्त

किया है, तुम उसी पथ की कोई जन्तु हो। जो केंचुल मैंने उतार फेंकी है तुम उसी का कोई टूटा हुआ अवशेष हो।

इस के अतिरिक्त भी हमारा कोई परिचय या सम्बन्ध है, यह मैं किसी प्रकार भी अनुभव नहीं कर पाता।

(केवल ऐसा कहते-कहते मेरी जिह्वा रुक जाती है और कण्ठ रुद्ध हो जाता है।)

[३]

मैं अपने पुराने जीर्ण शरीर से मुक्त हो गया हूँ।

नया जीवन पाने के उन्माद मिश्रित आह्लाद में भी मुझे यह बात नहीं भूलती—नवीन जीवन की प्राप्ति भी उतनी सुखद नहीं है जितना यह ज्ञान कि मेरा पुराना जीवन नष्ट हो गया है। नये जीवन के प्रति मुझे अभी तक मोह नहीं हुआ—अभी तो मुझे इसी अनुभूति से अवकाश नहीं मिला कि मैं मुक्त हूँ—कि मेरा जीवन निर्बाध है।

(कभी जब तुम मेरे निकट आयी थी—तब ऐसा नहीं था। तब मैं इस नतनता के भाव में यह भी भूल गया था कि मेरा तुम से स्वतन्त्र अस्तित्व है!)

[४]

यह नया जीवन कहाँ से आया?

संसार भर में सजीवन की एक उन्मत्त लहर बही जा रही है। लहर नहीं अनुराग की एक लपट धधकती हुई जा रही है! उसी की एक चमक मुझ को मिली है—एक किरण मुझे भी छू गई है।

यह कवि कल्पना के चमन की चमक दमक नहीं है—न शरत्-ऋतु के रवि का क्षीण घाम ही है। इस में उन-सा क्षुद्र सौन्दर्य नहीं है—इस में निर्बाध व्यापकत्व की भव्यता है—और उत्तप्त आलोक!

(इस सजीवन सागर में भी तुम मृत्यु नहीं मृत्यु की छाया की तरह मँडरा रही हो!)

[५]

व्यष्टि-जीवन का अन्धकार!

इस नयी भावना के व्यापकत्व में भी मैं अपने को भुला नहीं पाता,

मरी सत्ता केवल उस समष्टि जीवन के एक अंश से गामित है जो मुझ प्राप्त
हुआ है। अपनी इस क्षुद्र सत्ता से मैं वह निरर्थता मानता हूँ, और सम
ज्ञाता हूँ कि मैं उस से एकरूप हूँ। मैं यह नहीं समझ सकता कि मैं उस के
एक अंश से ही पागल हूँ—उसके व्यापकत्व को समझ भी नहीं पाया।
पुराने जीवन की स्मृति ने अभी तक मुझे नहीं छोड़ा—व्यष्टि भाव
अभी भी अज्ञात रूप से मुझे भुला देता है।

[६]

विज्ञान का गम्भीर स्वर कहता है विश्व का प्रस्तार धीरे धीरे बढ़ता
जा रहा है—विश्व सीमित होते हुए भी धीरे धीरे फैलता जा रहा है।
दर्शन का चिन्तित स्वर कहता है मनुष्य का विवेक धीरे धीरे अधि
काधिक प्रस्फुटित होता जा रहा है।
फिर यह चेतन सत्ता यह मनोवेग क्या संकीर्णतर उग्रतर तीक्ष्णतर
होता जाता है। यह क्यों नहीं प्रस्फुरित हो कर अपने संकीर्ण एकत्व को
छोड़ कर व्यापक रूप धारण करता क्या नहीं हमारे क्षुद्र हृदय एक को
भुला कर अनेक को—विश्वत्रय को—अपने भीतर स्थान दे पाते

[७]

शब्द—शब्द—शब्द बाह्य आकारों का आडम्बर।
एक प्राणहीन शव को छोड़ते हुए मुझे मोह होता है—फिर भी मैं
समष्टि जीवन की कल्पना कर रहा हूँ—और इस का अभिमान करता हूँ?
अरी निराकार किन्तु प्रज्वलित आग! इस भाव को निकाल कर
भस्म कर दे। पुराने जीवन के जो चिथड़े मेरे नवीन शरीर से चिपके हुए
हैं उन्हें अलग कर दे। मैं पंक से उत्पन्न हुआ हूँ तू अपने ताप से उसे सुखा
दे—ताकि मैं इस विश्व भाव में अपना व्यक्तित्व खो सकूँ—मैं भी उसी
आग की एक लपट हो जाऊँ—कोई देख कर यह न कह सके यह तू है—
इतनी तेरी इयत्ता है।

नहा काँपता है अब अन्तर।
नहीं कसकती अब अवहेला नहीं सालता मौन निरंतर।

७२ चिन्ता

तुझ से आँख मिलाता हूँ अब, तो भी नहीं हुलसता है उर,
किन्तु साथ ही कभी राग की रुख नहीं होता हूँ आतुर।

नहीं चाहता अब परिचय तेरे पर कुछ अधिकार दिखाना—
नहीं चाहता तेरा होना, या प्रतिदान दया का पाना।

देख तुझे पर, पूर्व प्रेम की प्रतिक्रिया से हो कर विचलित—
नहीं फणी-सा रुक जाता हूँ पीड़ा से अब हो कर स्तम्भित।

तुझे 'मित्र' कहते अब वाणी मेरी बिल्कुल नहीं झिझकती—
तुझे अपरिचित नहीं, किन्तु जो उस से अधिक नहीं है कुछ भी!

लुटा चुका तेरा प्रणयी का सिंहासन मेरा अभ्यन्तर—
नहीं कसकता रिक्त हुआ भी नहीं सालती याद निरन्तर!

७२

मैं जीवन-समुद्र पार कर के विश्राम के स्थल पर पहुँच गया हूँ।

जिस तूफ़ान में मैं खो गया था उस में से निकलने का पथ विद्युत के प्रकाश की एक रेखा ने इंगित कर दिया है।

प्रेम को प्राप्त करना जीवन के मिष्ठान्नों का चखना और जीवन के मीठे आसव में मत्त रहना मेरे लिए नहीं है। मेरा काम केवल इतना ही है कि जो प्रेम औरों ने प्राप्त किया है, जिस आसव ने दूसरों को उन्मत्त किया है उस की पवित्र मिठास को अपनी वाणी द्वारा संसार भर में फैला दूँ—

और जो दुःख और क्लेश मैंने देखे हैं उन्हें अपने पास संचित कर लूँ—उस से एक विराट समाधि बना लूँ जिस में मृत्यु के बाद मेरा शरीर दब जाय।

मैं विश्राम के स्थल पर पहुँच गया हूँ—अब अपना अंतिम कार्य पूरा कर के विश्राम करूँगा।

विदा ! विदा ! इस विकल विश्व से विग लचुका !
अपने इस अतिव्यस्त जगत से जुदा हो चुका !

देख रहा हूँ मुड़ मुड़ कर—यह मोह नहीं है—
नहीं हृदय की विकल निबलता फूट रही है !

सोच रहा हूँ वह जिसको खोजते स्वयं खो जाना है—
उस निर्वेद अतीन्द्रिय जग में क्या-क्या मुझे भुलाना है !

७४

हम एक-दूसरे को कुछ नहीं कहना है फिर भी हम क्यों रुके हुए हैं ?
हम क्यों अपने को एक दूसरे से बाँधने का प्रयत्न कर रहे हैं—जब कि हमारे बीच में पीडा के अतिरिक्त किसी बात का सान्निध्य नहीं है ?

हम दोनों बहुत दूर के यात्री हैं। हम दोनों ही अपने बन्धु बान्धवों को छोड कर उन्हें कष्ट दे कर और दुखित करते हुए यहाँ पहुँचे हैं और हमारा मिलन हुआ है।

किन्तु हमारे मिलन में अपरिचय के अतिरिक्त कोई भाव नहीं है।

हम परस्पर एक-दूसरे को अजनबी की तरह घूरते हैं—और उस घूरने में सहानुभूतिपूर्ण कौतुक तक नहीं है—केवल एक क्षीण विरोध का भाव है।

मानो हम वर्षों तक सुदूर देशों से पत्र-व्यवहार करते रहे हों और अपने हृदयों में एक-दूसरे की दिव्य मूर्तियाँ स्थापित किये हों। वास्तविकता की चोट से वे मूर्तियाँ जो पुरानी होने के कारण सच्ची जान पडती थीं टूट गयी हैं—और हम आहत पीडित और दृप्त भाव से खडे हैं। हमारा अपरिचय पूर्ववत् हो गया है।

हम अपरिचित हैं, प्रेम नहीं करते। इतना भी प्रेम नहीं कि भली भाँति घृणा ही कर सकें।

फिर हम इस व्यर्थ लीला को छोड़ कर अपने विभिन्न पथों पर यात्रा क्यों नहीं किये जाते—क्यों रुके हुए हैं ?

७५

विदा हो चुकी (मिला हुआ कब ?) पर हाँ, फिर भी विदा ! विदा !
नहीं कभी आया था जो उस को कहता हूँ अब तू जा !
फिर भी क्या अन्तर में जाग रहा कोई सोया परिताप ?
कहता, 'इस को भी मेटेगा तू जो कुछ भी कभी न था ?'

नहीं मिले थे ! कैसे होगी टूट अलग होने में चोट ?
पर अंतस्तल में यह कैसा उबल उबल पड़ता विस्फोट ?
उर में उठती है रह रह कर कोई छिपी छिपी-सी हूक—
प्रकटित हो कर भी रह जाती मानस-अंधकार की ओट !

राह राह के राही सहसा जब पथ पर मिल जाते हैं—
चौराहे पर आ कर क्या वे अलग नहीं हो जाते हैं ?
प्रणय घात होता है क्या तब जब उस घनिष्ठता के बाद
आशापूर्ण हँसी हँसते वे तमसा में खो जाते हैं ?

सत्य नहीं मानता सही मैं तुम को दीख सका तो था—
खो वनपथ में गया, किन्तु मैं बन सहपथिक चला तो था !
नहीं चाहता मानो, यह भी नहीं कि मुझ पर हो विक्षोभ—
बिगड़ गया यह भाव रहे क्यों सोचो कभी बना तो था !

मैं यह भी क्या कहूँ कि मुझ को मतवत ही लेना तुम जान
'नहीं हुआ ही था वह—या भी या रखना अपना अभिमान ?
जीवन के गहरे अनुभव या नहीं कभी भूले जाते—
सदा रिक्त ही रहता है जो एक बार भर चुकता स्थान !

कैसे कहूँ भुला देना कैसे यह भी 'मत जाना भूल—
कैसे कहूँ फूल मत होना कैसे कहूँ कि 'होना शूल ।

शक्ति मन जो मैं कहता हू, शक्ति मन ही तुम सुन लो—
नही तुम्हारी ही यह है मर भी अरमानो की धूल!

७६

तुम्हारी अपरिचित आकृति को देख कर क्या मरे ओठ एकाएक उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं?

तुम्हारी अज्ञात आत्मा तक पहुचने के लिए क्या मरा अन्तर पिजर बद्ध व्याघ्र की तरह छटपटा रहा है?

मैं बन्दी हूँ परदेशी हूँ। मेरा शरीर लौह शृखलाओं म बँधा है। मेरा रोम रोम इस परायेपन की पीडा स व्याकुल हो रहा है मेरी नाडी के प्रत्येक स्पन्दन स पुकार उठती है तुम यहा नही हो—तुम हो ही नही और वह वह एक दूसरी सृष्टि म बीते हुए तुम्हारे भूतकाल स अधिक तुम्हारी कुछ नही है।

मैं परदेशी हूँ। मेरी जाति तुम्हारी जाति से परिचित नही है। मेरी आत्मा का तुम्हारी आत्मा स कोई सान्निध्य नही है।

फिर क्यो मेरी आत्मा बद्ध व्याघ्र की तरह छटपटा रही है क्या मेरे ओठ इस प्रकम्पित उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं?

७७

तरु पर कुहुक उठी पडकुलिया—
मुझ मे सहसा स्मृति सा बोला—
गत वसन्त का सौरभ छलिया।

किसी अचीन्ह कर ने खोला—
द्वार किसी भूले यौवन का—
फूटा स्मृति सचय का फोला।

लगा फेरने मन का मनका
पर हा यह अनहोनी कैसी—
बिखर गया सब धन जीवन का!

जीवन माना पहले जमी—
किन्तु एक ही उस में दाना—
तू निरुपम थी अपने ऐसी !

तेरा कहा न मैंने माना—
'भर लो अपनी अनुभव-डलिया।'
निरुपम ! अब क्या रोना गाना !

'भर लो अपनी अनुभव-डलिया !
धूल, धूल मधु की रंगरलिया !
परिचित भी तू रही अचीन्ही—
तरु पर कुहुक उठी पड़कुलिया !

७८

तुम आये तुम चले गये ! नाता जोड़ा था तोड़ गये।
हे अबाध ! जाते अबाध सूनापन मुझ को छोड़ गये।
अशुभ विपली छायाओं से अब मैं जीवन भरता हूँ—
नीच अजान नहीं हूँ, प्रियतम ! सूनेपन से डरता हूँ !

७९

यह केवल एक मनोविकार है।

हमारी बुद्धि, हमारी विश्लेषण शक्ति, जो हमारी सभ्यता और संस्कृति का फल है एक दूसरे की त्रुटियों को जान गयी है। मनसा हम विमुख हो गये हैं और विश्रान्ति से भरे एक क्षीण औत्सुक्य से एक-दूसरे को देख रहे हैं।

किन्तु हमारी बाह्य आत्मा ने हमारे शरीर ने अभी तक वह संगीत नहीं भुलाया। हमारे तन अब भी उसी उन्मत्त वेदना से तने हुए हैं जिसे हमारे मन भूल गये है और नियन्त्रित नहीं रख सकते

मेरे अभ्यन्तर का उन्मत्त गजराज वनस्थली में विहार कर रहा है और तुम में अपनी खोयी हुई करिणी को पहचानता है।

८०

मैं जगत को प्यार कर के लौट आया!

सिर झुकाये चल रहा था
जान अपने को अकेला
थक गये थे प्राण व्याकुल
हो गया जग का झमेला
राह में जाने कहाँ कट सा
गिरा कब जाल कोई—
चुम्बनों की छाप में यन्
पुलक मेरा गात आया।

ओ सखे! बोलो कहाँ से
तुम हुए थे साथ मेरे—
किस समय तुमने गहे थे
इस निविड़ में हाथ मेरे?
किन्तु आ न्याता विनादी
यह तुम्हारी देन कैसी?
छोड़ने भव को चला था
लौट घर परिणीत आया!

घुमड़ आयी है घटा, चल
रही आँधी सनसनाती
आज किन्तु कठोर उस की
चोट मुझ को छू न पाती—
रण विमुख भी आज मुझ को
कवच मेरा मिल गया है—
मर्म मेरे को लपेटे
है तुम्हारी स्निग्ध छाया!

राह में तुम क्या भला
आने पकड़ने हाथ मेरे ?
तब रहे क्या उस जगत में
भी सदा तुम साथ मेरे ?
और मैं तुम को भुला कर
क्षुद्र ममताएं समेटे—
माँगता दर-दर फिरा
दर-दर गया था दुरदुराया ।

देख तब तुमने लिये
होंगे सभी उत्पात मेरे
वासना की मार से जब
झुलसते थे गात मेरे ?
और फिर भी तुम झुके
मुझ पर छिपा ली लाज मेरी—
इस कुमति का साथ अपने
एक आसन पर बिठाया ।

प्यार का मैं था भिखारी
प्यार ही धन था तुम्हारा,
मुझ मलिन को बीच पथ में
अंक ले तुमने दुलारा ।
यह तुम्हारा स्पर्श था
संजीवनी मैं पा गया हूँ—
असह प्राणोन्मेष से
व्याकुल हुई यह जीर्ण काया ।

ओठ सूखे थे, तभी था
घुमड़ता अवसाद मन में,
पर तुम्हारे परस ने प्रिय
भर दिया आह्लाद मन में ।

मेरे अभ्यन्तर का उन्मत्त गजराज वनस्थली में विहार कर रहा है और तुम में अपनी खोयी हुई करिणी को पहचानता है।

८०

मैं जगत को प्यार कर के लौट आया!

सिर झुकाये चल रहा था
जान अपने को अकेला
थक गये थे प्राण बोझल
हो गया जग का झमेला
राह में जाने कहाँ कट-सा
गिरा कब जाल कोई—
चुम्बनों की छाप से यह
पुलक मेरा गात आया।

ओ सखे! बोलो कहाँ से
तुम हुए थे साथ मेरे—
किस समय तुमने गहे थे
इस निविड़ में हाथ मेरे?
किन्तु ओ दाता विनोदी
यह तुम्हारी देन कैसी?
छोड़ने भव को चला था
लौट घर परिणीत आया!

घुमड़ आयी है घटा पर
रही आँधी सनसनाती
आज किन्तु कठोर जग की
चोट मुझ को छू न पाती—
रण विमुख भी आज मुझ को
कवच मेरा मिल गया है—
मर्म मेरे को लपेटे
है तुम्हारी स्निग्ध छाया!

राह म तुम क्यों भला
आन पकड़न हाथ मेरे ?
तब रहे क्या उस जगत म
भी सदा तुम साथ मेर ?
और मैं तुम को भुला कर
क्षुद्र ममताएँ समेटे—
माँगता दर-दर फिरा
दर-दर गया था दुरदुराया।

देख तब तुमने लिये
होंगे सभी उत्पात मेरे
वासना की मार से जब
भुलसते थे गात मेरे ?
और फिर भी तुम भुके
मुझ पर छिपा ली लाज मेरी—
इस कुमति को साथ अपने
एक आसन पर बिठाया।

प्यार का मैं था भिखारी
प्यार ही धन था तुम्हारा
मुझ मलिन को बीच पथ म
जब ले तुमने दुलारा।
यह तुम्हारा स्पश या
सजीवनी मैं पा गया हूँ—
असह प्राणोन्मेष स
व्याकुल हुई यह जीर्ण काया।

ओठ सूखे थे, तभी था
घुमडता अवसाद मन म,
पर तुम्हारे परस ने प्रिय
भर दिया आह्लाद मन म।

टिमटिमाते में धुआँ जो
दीप मेरा दे रहा था—
उमड उस के तृषित उर में
स्नेह - पारावार आया!

मैं अनाथ भटक रहा था
किन्तु आज सनाथ आया—
निज कुटीर-द्वार पर मैं
प्रिय तुम्हारे साथ आया!
मैं जगत को प्यार कर के लौट आया!

८१

तुम्हारे प्रणय का कुहरा आँसुओं की नमी से और सहानुभूति की तरलता से सजीव हो रहा है और मैं उस सजीव यवनिका को भेदता हुआ चला जा रहा हूँ।

लालसा के घने श्यामकाय वृक्ष और अज्ञात विरोधों की झाड़ियाँ उस कुहरे में छिपी रहती हैं और देखने में नहीं आतीं। किन्तु जब मैं आगे बढ़ने को होता हूँ तब उन में टकरा कर रुक जाता हूँ। तब उन का वास्तविक स्थूल अप्रसाध्य अव्याहत कठोरत्व प्रकट हो जाता है।

मैं तुम्हारे प्रणय के घने कुहरे को भेदता चला जा रहा हूँ।

८२

निराश प्रकृति विलाप गा रही है, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में मौन खड़ा हूँ।

आकाश की आकांक्षाओं की करुण पुकार की तरह टिटिहरी गा रही है—'चीहू! चीहू!' पर अपनी अभिलाषाओं के साकार पुंज को कहीं चीन्ह नहीं पाती!

दूर कुएँ पर रहट चल रहा है। उस की थकी हुई पीड़ा कराह-कराह कर कहती है पाऊँगी! पाऊँगी! पर स्वभाव से अस्थिर पानी बहता

ही चला जाना है।

रात की साय-साँय करती हुई नीरवता कहती है, 'मुझ म सब कुछ स्थिर है', पर अवसाद की भाफ भरी साँस की तरह दो साँस उस के हृदय को चीरते हुए चले जा रहे हैं।

निराश प्रकृति विहाग गा रही है पर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा म मौन मग्न हूँ।

८३

जब तुम चली जा रही थी, तब मैं तुम्हार पथ की एक ओर खडा था।

तुम से बात करने का साहस मुझ मे नष्ट ही चुका था। मैंने डरते डरते तुम्हारे अचल का छोर पकड लिया।

(न जाने मैंने ऐसा क्या किया? मुझे तुम से कुछ पाने की इच्छा नही थी।)

तुम रुक गयी, किन्तु कुछ बोली नही न तुमने मेरी ओर देखा ही। मैं बार बार तुम्हारे मुख को अपनी ओर फिराता किन्तु तुम फिर फिर घूम जाती। अन्त मे मैंने डरते डरते अपना मस्तक तुम्हारे अधरो पर रख दिया।

(न जाने मैंने ऐसा क्या किया? मुझे तुम से कुछ पाने की इच्छा नही थी।)

किन्तु जब तुम इसी प्रकार निश्चल खडी रही तुम्हारे अधर हिले भी नही न तुमने मुख ही फेरा तब मुझे व्यथा और क्षोभ हुआ और मैं तुम्हे वही छोड कर चला आया।

८४

अब भी तुम निर्भीक हो कर मेरी अवहेलना कर सकती हो।

क्योंकि तुम गिर चुकी हो पर ओ घृणामयी प्रतिमे! अभी हमारा प्रेम नही मरा।

तुम अब भी इतनी प्रभावशालिनी हो कि मुझे पीडा द सकती हो और मैं अब भी इतना निर्बल हूँ कि उस से व्यथित हो सकता हू।

८५

विपन्न! विस्मरण में खो जा!
पुंजीभूत प्रणय वेदने!
आज विस्मृता हो जा!

क्या है प्रेम? घनीभूता इच्छाओं की ज्वाला है!
क्या है विरह? प्रेम की बुझती राख भरा प्याला है!
तू? जाने किस किस जीवन में विच्छेदों की पीड़ा—
नभ के कोने-कोने में ला बीज व्यथा का बो जा!
विपन्न! विस्मरण में खो जा!
नाम प्रणय पर अन्तस्तल में फूट जगानेवाला!
स्वार्थसिद्धि पर जग भर का उद्भ्रान्त नचानेवाला!
अरी हृदय की तृषित हूक—उन्मत्त यातना-ज्वाला!
क्या उठती है सिहर सिहर आ! मम प्राणों में सो जा!
विपन्न! विस्मरण में खो जा!
पुंजीभूत प्रणय वेदने!
आज विस्मृता हो जा!

८६

प्रत्यूष के क्षीणतर होते हुए अन्धकार में क्षितिज रेखा से कुछ ऊपर दो तारे चमक रहे हैं।

मुझ से कुछ दूर वृक्षों के झुरमुट की घनी छाया के अन्धकार में दो खद्योत जगमगा रहे हैं।

नदी का मन्दगामी प्रवाह आकाश के न जाने किस छोर से थोड़ा-सा आलोक एकत्रित कर के सीसे-सा झलक रहा है।

मैं एक अलस जिज्ञासा से भरा हुआ सोच रहा हूँ कि जो अभेद्य अन्धकार मुझे घेरे हुए है, मुझ में व्याप्त हो रहा है और मेरे जीवन को बुना-बुना लेता है, उस की सीमा कहाँ है।

८७

मेरे प्राण आज कहते हैं
वह प्राचीन अकथ्य कथा
जिस म व्यक्त हुई थी—
प्रथम पुरुष की प्रणय व्यथा ।

फिर भी पर वह चिर-नूतन
हो सकती नहीं पुरानी,
जब तक तुझ म जीवन है
मुझ म उस का आकर्षण
जब तक तू रूप शिखा - सी
मैं विकल आत्म-आवेदन,
तेरी आखो मे रस है
मेरी आखो म पानी !
जब तक मानव मानव है—
वह आदिम एक कहानी !

प्रणय कथा यह प्रथम-पुरुष से भी प्राचीन
तब, जब सफल-समापन मे हो जावे वह चिर लीन !

८८

तुम म या मुझ मे या हमारे परस्पर प्रणय व्यवहार म अभिजात कुछ भी नहीं है। केवल हम तीनो के मिलने से उत्पन्न हुई आत्मबलिदान की कामना ही अभिजात है।

तुम म या मुझ म, या हमारे प्रेम म ही अजस्रता नहीं है। केवल हम तीनो के संघर्षण से उत्पन्न होनेवाली पीड़ा ही अजस्र है।

कभी-कभी मेरी आँखों के आगे से मानो एकाएक कोई परदा हट जाता है—और मैं तुम में निहित सत्य को पहचान लेता हूं।

प्रेम में बन्धन नहीं है। हमें जो प्रिय वस्तु को स्वायत्त करने की इच्छा होती है—वह इच्छा जिसे हम प्रेम का आकर्षण कहते हैं—वह केवल हमारी सामाजिक अधोगति का एक गुबार है।

हमने प्रेम की सरलता नष्ट कर दी है। हमने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों से बाँध कर उसे एक मोह-जाल मात्र बना दिया है।

प्रेम आकाश की तरह स्वच्छ और सरल है। हम और तुम उस में उड़नेवाले पक्षी हैं—चाहे किधर भी उड़ें उस का विस्तार हमें घेरे रहता है और हमें धारण करता है। और उस के असीम ऐक्य में लीन हो कर भी हम एक-दूसरे के अधीन नहीं होते अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं नष्ट करते। बन्धन में स्वातन्त्र्य नामक शब्दजाल को प्रेम समझनेवाली अवस्था से हम बहुत परे हैं।

किन्तु प्रेम अधिकार नहीं है यह ज्ञान मुझे तभी होता है जब मैं तुम्हें स्वायत्त कर लेता हूँ।

९०

उखड़ा सा दिन उजड़ा सा नभ
उचटे से हेमन्ती बादल—
क्या इसी शून्य में खोयगा
अपना दुलार का अन्तिम पल?

म्लान दिन में तन्द्रा-सी से
सहसा जग कर अनखाया-सा
करतल पर तेरे कुन्तल धर
मैं बैठा हूँ भरमाया-सा—

भटकी-सी मेरी अनामिका
सीमन्त टोहती है तेरा—
है जहाँ किसी एकाकी ने
सयोग लिखा तेरा मेरा।

यह लघु क्षण अक्षर है, अव्यय,
तद्गत हम, सुख-आलस्य विकल,
ओ दिन अलसाय, हमन्तो,
धीरे ढल, धीरे धीरे ढल!

६१

तुम मेरे जीवन-आकाश मे मँडराता हुआ एक छोटा-सा मेघपुंज हो।

तुम ताजगी हो, तुम लचीली और तरल हो तुम शुभ्र सुन्दर, और नश्वर हो। जीवन म आनन्द लाभ के लिए जिन जिन उपकरणो की आवश्यकता है, वे सभी तुम म उपस्थित हैं।

फिर भी, तुम मेरे जीवन आकाश म मँडराता हुआ एक छोटा मेघपुंज मात्र हो!

६२

मुझे जो बार-बार यह भावना होती है कि तुम मुझे प्रेम नही करती, यह केवल लालसा की स्वार्थमयी प्रेरणा है।

मैं अपने को ससार का केन्द्र समझकर चाहता हूँ कि वह मेरी परिक्रमा करे। मुझे अभी तक यह ज्ञान नही हुआ कि केन्द्र न मैं हूँ न तुम, जिस प्रकार हमारा ससार मेरे और तुम्हारे बिना नही रह सकता उसी प्रकार हम-तुम भी ससार से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। मैं, तुम और ससार, तीनो का एकीकरण ही हमारे प्रेम का सच्चा रूप है।

इस ज्ञान के उद्रेक म मैं फिर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से तुम्हे वरता हू। विवश हो कर नही, मूक अभिमान से दर्शित हो कर नही—अपने तुम्हारे,

और ससार के अनन्त प्रेम की गाथा से प्रेरित हो कर पुन तुम्हारे आगे अपने को निछावर करता हूँ।

९३

आओ हम-तुम अपने ससार का फिर से निर्माण करें।

हम बहुत ऊँचा उड़ना चाहते थे सूर्य के ताप से हमारे पख झुलस गये। उस वातावरण मे हमारा स्थान नही था।

हम अपना नीड पृथ्वी पर बनायेगे।

नही वृक्ष की डालो पर नही वहाँ भी पवन का वेग हमे कष्ट देगा। हम अपना छोटा सा नीड इस भूमि पर ही बनायेंगे।

हमने बहुत मान किया है।

किन्तु भूमि पर हमारे घर मे अब वह अभिमान नही होगा। लोग हमे अति क्षुद्र समझ कर ठुकराना भी भूल जायँगे।

नही हम अपने लिए एक नीड भी क्या बनायें ?

हमे अपना स्वत्व कहने को कुछ नही चाहिए। हम भूमि पर रहेगे—केवल हम-तुम, और हमारे आगे निस्सीम ससार। जब हमारे पास कुछ भी नही रहेगा जो दुनिया हम से छीन सके तब हमारे जीवन मे विष बीज बोने कोई नही आयगा।

अत आओ, हम-तुम अपने ससार का फिर से निर्माण करे।

९४

वह पागल है। मैं उस का निरन्तर प्रयास देख कर उसे समझाता हू, 'पागल ! ओ पागल ! तू इस टूटे हुए कलश मे पानी क्या भरता है ? इस का क्या फल होगा ? यह पानी बह कर लाभहीन अनुभव की रेत मे सूख जायगा, और तू प्यासा खड़ा देखता रहेगा।

किन्तु वह मानो अलौकिक ज्ञान पा कर बडी दृढ निष्ठा से कहता है

'जहाँ जल गिरता है वहाँ जीवन प्रकट होता है। दुख ही मंगल का अंकुर है।

वह पागल है। असाध्य पागल है!

६५

भीम प्रवाहिनी नदी के कूल पर बैठा मैं दीप जला-जला कर उसमें छोड़ता जा रहा हूँ।

प्रत्येक दीप का विसर्जन कर के मैं सोचता हूँ— यही मेरा अन्तिम दीप है।'

किन्तु जब वह धीरे धीरे बहुत दूर निकल कर दृष्टि से ओझल हो जाता है, जब श्यामा नदी के वक्ष पर उस के क्षीण हास्य की अन्तिम आलोक रेखा बुझ जाती है तब अपने आगे असंख्य तारकों से भरे नभ मण्डल का शीतल और नीरव सूनापन देख कर मेरे भीरु हृदय में फिर एक बन्धु की चाह जाग्रत हो उठती है। मैं फिर एक दीप जला कर उसे जल पर तैरा देता हूँ।

उसका कम्पित और अनिश्चयपूर्ण नृत्य देख कर मुझे मालूम होता है कि मैं अकेला नहीं हूँ—कोई अपनी क्षण भंगुर ज्योति से मुझे सान्त्वना दे रहा है।

मैं अपने सारे दीप बहा चुका हूँ। वह जिसे मैं लिये खड़ा हूँ यही एकमात्र बच गया है।

इस की कम्पित शिखा से मेरे आस-पास एक छोटा सा आलोकित वृत्त बन रहा है। उसे देख कर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं किसी अज्ञात स्नेह और सहानुभूति से घिरा हुआ हूँ।

अन्तिम बन्धु! मैं तुम्हारा विसर्जन नहीं कर सकूँगा। तुम्हें यहीं कूल पर छोड़ कर मैं स्वयं चला जा रहा हूँ।

मेरे क्षणिक जीवन के क्षणिकतर स्मृति चिह्न के समान तुम यहाँ जलते रहो, कुछ काल के लिए—मेरे चले जाने तक—और उस स्थान को

और ससार के अनन्त ऐश्वर्य की गणना से प्रेरित हो कर पुन तुम्हारे आगे अपने को निछावर करता हूँ।

९३

आओ, हम-तुम अपने ससार का फिर से निर्माण करें।

हम बहुत ऊँचा उडना चाहते थे सूर्य के ताप से हमारे पख झुलस गये। उस वातावरण म हमारा स्थान नही था।

हम अपना नीड पृथ्वी पर बनायगे।

नही वृक्ष की डाला पर नही, वहाँ भी पवन का वेग हम कष्ट देगा। हम अपना छोटा सा नीड इस भूमि पर ही बनायेंगे।

हमने बहुत मान किया है।

किन्तु भूमि पर हमारे घर म अब वह अभिमान नही होगा। लोग हम अति क्षुद्र समझ कर ठुकराना भी भूल जायेंगे।

नही हम अपने लिए एक नीड भी क्या बनायें ?

हम अपना स्वत्व कहने को कुछ नही चाहिए। हम भूमि पर रहेगे—केवल हम-तुम और हमारे आगे निस्सीम ससार। जब हमारे पास कुछ भी नही रहेगा जो दुनिया हम से छीन सके तब हमारे जीवन म विष बीज बोने कोई नही आयेगा।

अत आओ हम-तुम अपने ससार का फिर से निर्माण करें।

९४

वह पागल है। मैं उस का निरन्तर प्रयास देख कर उसे समझाता हूँ पागल ! ओ पागल ! तू इस टूटे हुए कलश म पानी क्यो भरता है ? इस का क्या फल होगा ? यह पानी वह कर लाभहीन अनुभव की रेत म सूख जायगा और तू प्यासा खडा देखता रहेगा।

किन्तु वह मानो अलौकिक ज्ञान पा कर बडी दृढ निष्ठा से कहता है

'जहाँ जल गिरता है वहाँ जीवन प्रवाह होता है। दुःख ही में सुख का अंकुर है।'

वह पागल है। असाध्य पागल है!

६५

भीम प्रवाहिनी नदी के कूल पर बैठा मैं दीप जला-जला कर उस में छोड़ता जा रहा हूँ।

प्रत्येक दीप का विसर्जन कर के मैं सोचता हूँ—'यही मेरा अन्तिम दीप है।'

किन्तु जब वह धीरे धीरे बहुत दूर निकल कर दृष्टि से ओझल हो जाता है जब श्यामा नदी के वक्ष पर उस के क्षीण हास्य की अन्तिम आलोक रेखा बुझ जाती है, तब अपने आगे असंख्य तारकों से भरे नभ मण्डल का शीतल और नीरव सूनापन देख कर मेरे भीरु हृदय में फिर एक बन्धु की चाह जाग्रत हो उठती है। मैं फिर एक दीप जला कर उस जल पर तैरा देता हूँ।

उसका कम्पित और अनिश्चयपूर्ण नृत्य देख कर मुझे मालूम होता है कि मैं अकेला नहीं हूँ—कोई अपनी क्षण भंगुर ज्योति से मुझे सान्त्वना दे रहा है।

मैं अपने सारे दीप बहा चुका हूँ। वह, जिसे मैं लिये खड़ा हूँ यही एकमात्र बच गया है।

इस की कम्पित शिखा से मेरे आस-पास एक छोटा-सा आलोकित वृत्त बन रहा है। उसे देख कर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं किसी अजान स्नेह और सहानुभूति से घिरा हुआ हूँ।

अन्तिम बन्धु! मैं तुम्हारा विसर्जन नहीं कर सकूँगा। तुम्हें यहीं कूल पर छोड़ कर मैं स्वयं चला जा रहा हूँ।

मेरे क्षणिक जीवन के क्षणिकतर स्मृति चिह्न के समान तुम यहीं जलते रहो कुछ काल के लिए—मर बुझने जाने तक—और उस स्थान का

आलोकित किए रहा जिस पर खड़ हो कर मैंने अपना सारदीप भीम प्रवाहिनी नदी के वक्ष पर विसर्जित कर दिया है।

९६

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो, मैं उस की छाया।

मेरे अन्तर की दुर्दमनीय लालसाएँ अन्धकार की लपलपाती जिह्वाओं सी तुम्हें ग्रसने आती हैं और तुम्हारी कान्ति पर क्रूर आक्रमण करती हैं। तुम एकाएक काँप उठती हो मानो अभी मुझे छोड़ कर चली जाओगी।

किन्तु तुम्हारा अवसाद क्षण ही भर में धुआँ हो कर उड़ जाता है—और तुम्हारी काया फिर अपनी अम्लान आभा से दीप्त हो उठती है। मैं भी स्थिर हो कर अपने स्थान पर आ जाता हूँ और दीप की आड़ से तुम्हारा अनिन्द्य और अनिर्वचनीय सौन्दर्य देखा करता हूँ।

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो मैं उस की छाया।

९७

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।
तुम क्षितिज की सन्धि रेखा के आकाश हो, और मैं वहाँ की पृथ्वी।

हम दोनों अभिन्न हैं, तथापि हमारे स्थूल आकार अलग-अलग हैं, हम दोनों ही सात्त्विक हैं, पर हमारा अस्तित्व नहीं है, हम दोनों के प्रस्तार सीमित हैं फिर भी हमारा मिलन अनन्त और अखंड है।

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।

९८

मेरे उर की आलोक किरण!
तेरी आभा से स्पन्दित है मेरा अस्फुट जीवन क्षण क्षण!

आलोकित किए रहो जिस पर गड हो कर मैं
प्रवाहिनी नदी के वक्ष पर विराजित कर दिय है।

६६

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उ
उस की छाया।

मेरे अन्तर की दुदमनीय लालसाएँ अन्धकार
सी तुम्हें ग्रसन आती है और तुम्हारी कान्ति पर
तुम एकाएक कॉप उठती हो मानो अभी मुझ छो

किन्तु तुम्हारा अवसाद क्षण ही भर म धुआँ
और तुम्हारी काया फिर अपनी अम्लान आभा र
भी स्थिर हो कर अपने स्थान पर आ जाता हूँ
तुम्हारा अनिन्द्य और अनिवचनीय सौ दय देखा क

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस
उस की छाया।

६७

मैं तुम्हें सम्पूणत जान गया हू।
तुम क्षितिज की सधि रेखा के आकाश हो

हम दोनो अभिन्न है तथापि हमारे स्थूल
हम दोनो ही सात्त्विक हैं, पर हमारा अस्तित्व नही
सीमित हैं फिर भी हमारा मिलन अनन्त और अ

मैं तुम्हे सम्पूणत जान गया हू।

६८

मरे उर की आलोक किरण!
तरी आभा से स्पदित है मेरा अ

१

सखि ! आ गये नीम को बौर !
हुआ चित्रवर्मा वसन्त अवनी-तल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता में भी लगा टपकने मादक मधु रस !
क्या न फडक फिर उठे तडपती विह्वलता से मेरी नस-नस !

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रणय-केलि का आयोजन सब करते हैं सब ठौर'—
कठिन यत्न से इसी तथ्य के प्रति मैं नयन मूद लेती हूँ—
किन्तु जगाता पडकुलिया का स्वर वह एकाएक सखी तू ?'

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रिय के आगम की कब तक है बाट जोहनी और ?
फलाये पावडे सिरिस ने बुन बुन कर सौरभ के जाल—
और पलाश आरती लेने लिये खडे हैं दीपक थाल !

सखि ! आ गये नीम को बौर !

गये ? मैं दौड़ कर किवाड़ पर गयी, उसे झटक झटकार खींचने लगी।

वह खुला नहीं।

मैंने देखा।

मैं उसे बन्दी करना चाहती थी। नहीं तो मुझे किवाड़ बन्द करने का ध्यान ही क्या हुआ ? यह उसी का पुरस्कार था कि मैं बन्दी हूँ, और इतना ही नहीं मैं किवाड़ खोल कर उसकी प्रतीक्षा भी नहीं कर सकती।

मैं लौट कर आसन के पास आ कर उस पर सिर टेक कर बैठ गयी।

इस लिए नहीं कि मुझ पर अन्याय हुआ इस लिए नहीं कि वह चला गया। इस लिए कि मैं दोषी थी, इस लिए कि उसका चल जाना उचित था।

मैं समझती थी देवता की पूजा से मन्दिर की सफलता है। मैं नहीं जानती थी कि देवता की स्थापना ही पर्याप्त है।

मैं रोने लगी।

मैंने जाना मेरा सिर आसन पर टिके हुए उसी के पैरों पर है। मेरे आँसू उसी के पैरों की धूल धो रहे थे।

प्रकाश की एक प्रखर किरण से चौंधियायी हुई मेरी आँखों ने देखा द्वार खुला है।

आलोकित किए रहा जिस पर खड़ा हो कर मैंने अपने सारे दीप भीम प्रवाहिनी नदी के वक्ष पर विसर्जित कर दिये हैं।

९६

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो, मैं उस की छाया।

मेरे अन्तर की दुर्दमनीय लालसाएँ अन्धकार की लपलपाती जिह्वाओं सी तुम्हें ग्रसने आती हैं और तुम्हारी कान्ति पर क्रूर आक्रमण करती हैं। तुम एकाएक काँप उठती हो मानो अभी मुझे छोड़ कर चली जाओगी।

किन्तु तुम्हारा अवसाद क्षण ही भर में धुआँ हो कर उड़ जाता है— और तुम्हारी काया फिर अपनी अम्लान आभा से दीप्त हो उठती है। मैं भी स्थिर हो कर अपने स्थान पर आ जाता हूँ और दीप की आड़ से तुम्हारा अनिन्द्य और अनिर्वचनीय सौन्दर्य देखा करता हूँ।

हमारा प्रेम एक प्रज्वलित दीप है। तुम उस दीप की शिखा हो मैं उस की छाया।

९७

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।
तुम क्षितिज की सन्धि रेखा के आकाश हो और मैं वहीं की पृथ्वी।

हम दोनों अभिन्न हैं तथापि हमारे स्थूल आकार अलग-अलग हैं, हम दोनों ही सात्त्विक हैं पर हमारा अस्तित्व नहीं है, हम दोनों के प्रस्तार सीमित हैं फिर भी हमारा मिलन अनन्त और अखंड है।

मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ।

९८

मेरे उर की आलोक किरण!
तेरी आभा से स्पन्दित है मेरा अस्फुट जीवन क्षण क्षण!

मैंने रजनी का भार सहा,
—तम वारपार का ज्वार बहा—
पर तारा का आलोक तरल
मुझ को चिर अस्वीकार रहा,
सुख शय्या का आह्वान मिला—
मति भ्रामक स्वप्न वितान मिला—
पर तेरे जागरूक प्रहरी
का खड्गहस्त ही प्यार रहा।

तेरे वर में है अनल गर्भ बन गया इयत्ता का कण-कण।
मेरे उर की आलोक किरण।

६६

तुम चैत्र के वसंत की तरह हो प्राप्ति से शून्य किन्तु आशा से परिपूरित।

जिस प्रकार चैत्र में पुरानी त्वचा झड चुकी होती है शिशिर का कठोरत्व नष्ट हो चुकता है विटप श्रेणियाँ नयी नयी कोपलों से भूषित हो उठती हैं विश्व भर नयी सृष्टि के मादक आनन्द से भर उठता है—

किन्तु उस सृष्टि के अवतम, उस आनन्द की सफलता के उच्छ्वास नये वसन्त कुसुम अभी प्रकट नहीं हो पाते,

उसी प्रकार मैं तुम्हारे शरीर का चिर-नूतन सौन्दर्य देखता हूँ, तुम्हारे अनुराग की ज्योत्स्ना तुम्हारे प्रेम की दीप्ति—

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी तुम्हें नहीं पाता।

तुम चैत्र के वसन्त की तरह हो प्राप्ति से शून्य किन्तु आशा से परिपूरित।

[२]

अल्लाह के निन्नानवे नामों की तरह तुम्हारी विरुदावली भी असम्पूर्ण ही रह जाती है।

तुम्हारे अनेक रूपों को विश्व देखता है और प्यार करता है किन्तु तुम्हारा जो अत्यन्त अपनापन है तुम्हारे अस्तित्व का सार उसे कोई

देखता या जानता नहीं ।

जो तुम्हारे उस रूप को पहचान सकता है उस के तुम सम्पूर्णत वश हो जाओगी। जो तुम्हारे उस नाम का उच्चारण कर सकता है, वह तुम्हारा सखा, पति राजा देवता और ईश्वर है।

किन्तु अल्लाह के निन्नानवे नामों की तरह तुम्हारी विरदावली भी असम्पूर्ण रह जाती है ।

१००

इस अपूर्ण जग में कब किसने
प्रिय, तेरा रहस्य पहचाना ?
क्या न हाथ फिर मेरा काँपे
छू माला का अन्तिम दाना ?

निष्पत्ति

प्रियतमे ! तुम मुझे कहती हो कि मैं उस अनुभूति के बारे में लिखूं,
पर मैं लिख नहीं पाता ।

मैं उस पक्षी की तरह हूँ जो सूर्य के तेज को छू कर आया है किन्तु
जो थका हुआ पंख खोले पृथ्वी पर पड़ा है जो सूर्य की ओर भी दीन
दृष्टि से देखता है और कुछ दूर पर स्वच्छ नीर के सरोवर की ओर भी,
किन्तु न उड़ पाता है और न उस नीर तक ही पहुँच पाता है

मैं अब भी उस अनुभूति की तेजोमय पीड़ा से काँप रहा हूँ—किन्तु
वह गगनचुम्बी उड़ान

प्रियतमे ! तुम मुझ से कहती हो कि मैं उस अनुभूति के बारे में लिखूं
पर मैं लिख नहीं पाता

एकायन

'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय'

१

सखि! आ गये नीम को बौर!
हुआ विश्वकर्मा वसन्त अवनी-तल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता में भी लगा टपकने मादक मधु रस!
क्या न फड़क फिर उठे तड़पती विह्वलता से मेरी नस-नस!

सखि! आ गये नीम को बौर!
प्रणय-केलि का आयोजन सब करते हैं सब ठौर'—
कठिन यत्न से इसी तथ्य के प्रति मैं नयन मूँद लेती हूँ—
किन्तु जगाता पड़कुलिया का स्वर वह एकाकिन सखी तू?'

सखि! आ गये नीम को बौर!
प्रिय के आगम की कब तक है बाट जोहनी और?
फैलाये पाँवड़े सिरिस ने चुन-चुन कर सौरभ के जाल—
और पलाश आरती लेने लिये खड़े हैं दीपक थाल!

सखि! आ गये नीम को बौर!

गये ? मैं दौड़ कर किवाड़ पर गयी, उसे झटक झटक कर खीचने लगी।

वह खुला नही।

मैंने देखा।

मैं उसे बन्द करना चाहती थी। नही तो मुझे किवाड़ बन्द करने का ध्यान ही क्या हुआ ? यह उसी का पुरस्कार था कि मैं बन्दी हूँ, और इतना ही नही मैं किवाड़ खोल कर उसकी प्रतीक्षा भी नही कर सकती !

मैं लौट कर आसन के पास आ कर उस पर सिर टेक कर बैठ गयी।

इस लिए नही कि मुझ पर अन्याय हुआ, इस लिए नही कि वह चला गया। इस लिए कि मैं दोषी थी, इस लिए कि उसका चले जाना उचित था।

मैं समझी थी, देवता की पूजा से मन्दिर की सफलता है। मैं नही जानती थी कि देवता की स्थापना ही पर्य्याप्त है।

मैं रोने लगी।

मैंने जाना, मेरा सिर आसन पर टिके हुए उसी के पैरों पर है। मेरे आसू उसी के पैरों की धूल धो रहे थे।

प्रकाश की एक प्रखर किरण से चौंधियायी हुई मेरी आँखों ने देखा द्वार खुला है।

१

सखि ! आ गये नीम को बौर !
हुआ चित्रकर्मा वसन्त अवनी-तल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता से भी लगा टपकने मादक मधु रस !
क्यों न फड़क फिर उठे तड़पती विह्वलता से मेरी नस-नस !

सखि ! आ गये नीम को बौर !
'प्रणय-केलि का आयोजन सब करते हैं सब ठौर'—
कठिन यत्न से इसी तथ्य के प्रति मैं नयन मूंद लेती हूँ—
किन्तु जगाता पड़कुलिया का स्वर वह एकाग्र सखी तू ?'

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रिय के आगम की कब तक है बाट जोहनी और ?
फैलाये पावड़े सिरिस ने बुन-बुन कर सौरभ के जाल—
और पलाश आरती लेने लिये खड़े हैं दीपक थाल !

सखि ! आ गये नीम को बौर !

गये ? मैं दौड कर किवाड पर गयी उसे झटक झटककर गीचने लगी।

वह सुला नही।

मैंने देखा।

मैं उसे बन्दी करना चाहती थी। नही तो मुझे किवाड बन्द करने का ध्यान ही क्या हुआ ? यह उसी का पुरस्कार था कि मैं बन्दी हूँ और इतना ही नही मैं किवाड खोल कर उसकी प्रतीक्षा भी नही कर सकती !

मैं लौट कर आसन के पास आ कर उस पर सिर टेक कर बैठ गयी।

इस लिए नही कि मुझ पर अन्याय हुआ इस लिए नही कि वह चला गया। इस लिए कि मैं दोषी थी इस लिए कि उसका चले जाना उचित था।

मैं समझी थी देवता की पूजा से मन्दिर की सफलता है। मैं नही जानती थी कि देवता की स्थापना ही पर्य्याप्त है।

मैं रोने लगी।

मैंने जाना मेरा सिर आसन पर टिके हुए उसी के परा पर है। मेरे आसू उसी के परा की धूल धो रहे थ।

प्रकाश की एक प्रखर किरण स चौंधियायी हुई मेरी आँखो ने देखा द्वार खुला है।

१

सखि ! आ गये नीम को बौर !
हुआ चित्रकर्मा वसन्त अवनी-तल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता से भी लगा टपकने मादक मधु रस !
क्या न फडक फिर उठे तडपती विह्वलता से मेरी नस-नस !

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रणय-केलि का आयोजन सब करते हैं सब ठौर —
कठिन यत्न से इसी तथ्य के प्रति मैं नयन मूंद लेती हूँ —
किन्तु जगाता पडकुलिया का स्वर कह एकाएक 'सखी तू ?'

सखि ! आ गये नीम को बौर !
प्रिय के आगम की कब तक है बाट जोहनी और ?
फैलाये पाँवडे सिरिस ने बुन-बुन कर सौरभ के जाल —
और पलाश आरती लेने लिये खडे हैं दीपक थाल !

सखि ! आ गये नीम को बौर !

२

पथ पर निर्भर रूप बहे।

प्रनयकर पीडाएँ बोली,
तेरी प्रणय क्रियाएँ हो ली।
किस उत्सग भरे सुख से मैंने उन के आघात सहे।

मैं ही नही, अखिल जग ही तो
रहा देखता उसे स्तिमित हो।
सृष्टि विवश बह गयी वहा तो गति रोधन की कौन कहे।

प्रणय? प्राण तो मर कर जागे।
क्षण मे लुट कर उस के आगे।
अनुभूति द्युति अनुगम इच्छुक गिरते पन्त प्राण रहे।

पथ पर निर्भर रूप बहे।

३

मैंने तुम से कभी कुछ नहा माँगा।

किन्तु जब मधु सन्ध्या के धुधलके म मैं पश्चिमी आकाश को देखती बठी होती हूँ जब स्निग्ध-तप्त समीर नीबू के सौरभ भार से झूमता हुआ मुझे छू जाता है तब मैं अपने भीतर एक रिक्ति पाती हूँ और अनुभव करती हूँ कि तुमने मुझे प्रम से वचित रखा है।

मैंने तुम्हे कभी कुछ नहा दिया।

किन्तु जब उस घोर नीरव दोपहरी म मैं आकाश समुद्र की उडती हुई छिन्न बादल फन देखती हू और बुलबुल सहसा एकाकी पीडा के स्वर म सिसक उठती है तब मैं जान जाती हू कि मरा हृदय अब मरा नही रहा है।

४

मधु मजरि, अलि, पिक रव सुमन, समीर—
नव वसन्त क्या जाने मेरी पीर।

प्रियतम क्यों आते हैं मधु के फूल,
जब तेरे बिन मेरा जीवन धूल?

५

करुणे! तू खडी-खडी क्या सुनती।

उस निझरिणी की कल धारा
को बाँधे क्या कुल किनारा।
देव गिरा के मुक्तक-दाने
खडी रहेगी कब तक गुनती?

अखिल जगत् की स्तब्ध अजनी
मे पावन पीडा बह निकली।
तू मुग्धा, हृतसन करो से
उन फूलो से क्या है चुनती।

पायेगी क्या! स्वय अकिचन,
दे बिखेर निज उर का रोदन।
बुझ जावगी वह द्युति ता तू
खडी ही रहेगी कर धुनती।
करुणे! तू खडी खडी क्या सुनती।

६

पुजारिन कैसी हूँ मैं नाथ!
झुका जाता लज्जा से माथ।

छिपे आयी हू मन्दिर द्वार
छिपे ही भीतर किया प्रवेश।
किन्तु कस लू वदन निहार—
छिप कसे हो पूजा शेप!

दया से आंख मूद लो देव!
नही मागूगी मैं वरदान
तुम्हे अनदेखे दे कर भट—
तिमिर म हूँगी अन्तर्धान।

ध्यान मत दो तुम मेरी ओर—
न पूछो क्या लायी हू साथ!
गान से भरा हुआ यह हृदय—
अर्घ्य को चिर-तत्पर य हाथ!

पुजारिन कसी हूँ मैं नाथ!

७

टूट गये सब कृत्रिम बन्धन।

नदी नाँघ कूलो की सीमा
अणव-ऊर्मि हुई गति भीमा
अनुल्लघ्य यद्यपि अति धीमा
है तुम को मेरा आवाहन!
टूट गये सब कृत्रिम बन्धन!

छिन्न हुआ आचार नियन्त्रण—
कस बँधे प्रणय-आक्रन्दन?
दृष्टि-वशीकृत उर का स्पन्दन
तुम मानता है जीवन-धन!
टूट गये सब कृत्रिम बन्धन!

दय ? स्वय ही हूँ मैं दाता !
फिर तेरा सकेत बुलाता !
बिना लुटाये कोई पाता ?
लो ! देती हूँ अपना जीवन !
टूट गये सब कृत्रिम बन्धन !

८

जब मैं कोई उपहार ले कर तेरे आगे उपस्थित होती हूँ तब मेरे प्राण इस भावना से भर भर आते हैं कि वह तेरे योग्य नही है। तब, तुझे कैसे वह भेंट चढाऊँ ?

किन्तु यह मैं भूल जाती हूँ कि अब कभी कोई वस्तु मेरी आँखो मे अपूर्ण और निर्दोष नही होगी, क्योकि वे आँखें अब मेरी नही हैं उन मे से तो तेरी निरपेक्ष समदर्शी दृष्टि झाँक रही है

९

उर-मृग ! बँधता किस बन्धन मे !
थकित हुए स्वच्छन्द प्राण क्या
भटक भटक कर घन निर्जन मे !

अर्ध निमीलित हैं क्या लोचन
स्थिर क्या चपल पदो का स्पन्दन,
किस गुरु भार दबा सुन्दर तन—
किस आकर्षक सम्मोहन मे ?

जग की बिखरी गरिमा रोयी !—
तेरी अनुपम छवि क्यों खोयी ?
निरुपम ! सखा न पाया कोई
उस अबाध सुन्दर कानन मे ?

ओ चिर-बन्दी स्वतन्त्रता के,
अति परिचय से ही उकता के
स्वेच्छा ही से उसे लुटा के

उन्मुग विथर, विरल विस क्षण म !
उर मृग ! बँधता किस बधन म !

१०

म्ही किसी न गाया
मैं तरा हूँ– तू मेरा है
कसा यह प्रेम घनेरा है !'
मरा मन भर आया

प्रियतम, कभी तुम्हारे मुख स
य ही शब्द सुने थ मैंने—
अनजान म मन के धागे
से य वध गुने थे मैंने।
आज चीर परदा अतीत का
यही वाक्य तारे-सा चमका
'मैं तेरा हू– तू मेरा है
कैसा यह प्रेम घनेरा है !'

जाने किस विस्मति के क्षण म,
किस सुकृती के आकषण मे,
या कि देव के चरण स्तवन म
प्राण, तुम्हारे मुख पाटल से
हिमकण-जसे कोमल
ज्योत्स्ना जस चचल
परिमल स वे शब्द झरे थे।
म तरा हू—तू मरा है
कसा यह प्रेम घनेरा है !

मरे इस लम्बे जीवन म
दो स्मतियाँ है प्राण, तुम्हारी
उन से पहले उन से आगे
एक निविड रजनी है सारी !
—एक, जब कि पहले पहल ही
सहसा चौंक मुझे लखते ही

माना बुझ कर, माना जल कर,
अपने ही म सिमट-सँभल कर
बठ रह थ तुम, नीरव, नत मस्तक ।
मैं—हा मैं, भी बाल नहीं पायी थी कब तक ।
—और दूसरी जब मैंने कौशल से
छिप छिपे आ निकट तुम्हारे छल से
वे दा वाक्य सुने थे, जान किस के प्रति उच्चारित
कि तु जि ह सुन मेरा कण-कण हुआ कटकित, पुलकित ।
मैं तरा हूँ—तू मेरा है
कैसा यह प्रेम घनेरा है ।'

आज चीर परदा अतीत का
वही वाक्य तारे सा चमका,
कही किसी न गाया
'म तरा हूँ—तू मेरा है
कसा यह प्रेम घनेरा है ।'

मेरा मन भर आया

११

घन गजन सुन नाचे मत्त मयूर—
प्रियतम ! तुम हा मुझ से कितनी दूर !
कदली, कदम पिकाकुल कल सरि-कूल —
निमम ! कभी सकोगी तुम का भूल ?

१२

बहुत अब आखें रा ली !
नामहीन—या प्रियतम ?—पीडा की क्रीडाएँ हा ली !

काँपी दूर उषा की आभा, कमल-कली म गौरव जागा—
'जीती हूँ !' अनुभूति विकल हा मुकुलित पलकें खोली !

फूट पडा नभ का अन्तस्तल गिरती गिरा हृदय की हलचल,
'रात कहाँ ? जी ता लो !' या अरुणाली किरणें वाली !

मेरा मुरझा तनु मदिर लाल कट गिरा भयकर काल-जाल
प्रियतम ! रजनी के विष-प्याले म क्या औषध घोली ?

वह निशि का कृत्रिम पागलपन प्रणय मधुर है यह प्रातस्तन
जीवन मधु के ओसकणा से हमने आँखें धो ली !

सुरभित अनिल हिलोरें डोली, चौंकी अभिलाषाए भोली,
उर की अमर चिरन्तन प्यासें बहुत देर अब सो ली !

बहुत अब आखें रो ली !
प्रियतम ! चिर प्रणयी ! अब पीडा की क्रीडाएँ हो ली !

१३

मैं अपने परो के किंकिण-नूपुर खोल कर तुम्हारे चरणो म अपण करती हूँ।

तुम्हारे समीप आ कर मैंने अपने लौट जाने के सामथ्य का त्याग कर दिया है।

मैं अपनी भुजाओ स वलयादि भूषण उतार कर तुम्हारे चरणा म अपण करती हूँ।

तुम्हारे पाश्व म खडी हो कर मैने अपनी सारी क्षमताए तुम्हारी सेवा म समर्पित कर दी हैं।

मैं अपनी कटि की मणि मेखला अलग कर क तुम्हारे चरणा म अपण करती हूँ।

तुम्हारे आश्रय की छाया म मैंने अपनी सब रक्षाएँ तुम्हारे विश्वास के आग लुटा दी है।

मैं अपन वक्ष स यह हार निकाल कर तुम्हारे चरणा म अपण करती हू।

तुम्हारे तेज से अनुगत हो कर मैंने अपने हृदय की घनीभूत ज्वाला तुम्हें उत्सर्ग कर दी है।

मैं अपने शीश का यह एकमात्र कवरी-कुसुम निकाल कर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ।

तुम्हारी हो कर मैंने अपने अन्तिम दुर्ग का द्वार भी तुम्हारे लिए खोल दिया है—अपना अभिमान तुम्हारे पथ में बिखरा दिया है।

इस प्रकार अपना सब वैभव दूर कर, अपने प्राणों की अत्यन्त अकिंचनता में मैं अपने आप को तुम्हें देती हूँ।

१४

विजयी!

मैं इस का प्रतिदान नहीं मांगती।

यह भी नहीं कि तुम इन्हें ग्रहण ही करो।

भेंट का साफल्य उसे दे देने में ही है, उस की स्वीकृति में नहीं। तुम निःशंक हो कर इन्हें ठुकराओ और अपने विजय पथ पर बढ़े चले जाओ!

विजयी!

१५

किन्तु विजयी! यदि तुम बिना मांगे ही, स्वेच्छा से अपने अन्तःकरण के छलकते हुए सम्पूर्णत्व से विवश हो कर अपने विजय पथ पर रुक कर कुछ दे दोगे तो

तो तुम देखोगे, तुम्हारा विजय-पथ समाप्त हो गया है, तुम्हारी विजय यात्रा पूरी हो गयी है, तुम अपने विश्राम-स्थल पर पहुँच गये हो।

मेरे प्रेम में!

१६

तुम चिर अघट आसीर!

तुम मर निशाप उदास की ऊष्मग तप्त पुकार
तुम सघन-सावन व्योम से उन्नाग धारागार
तुम शीत में विकिरित धूमिल कम्पमय संसार –
तुम मधु दिशा में विपुल पुलकित प्राण रंग-संचार!

तुम सम-वयस सहचर तुम्हें सौंपे जगत का भार,
पर सह-पथिक आदिम अनादि तुम्हीं अपरिमित प्यार।
तुम सदय जीवन की तृषा तुम दूर एक सन्देह—
तुम स्वाति-से घन-तरल बिन्दु सम अगाध स्नेह!

तुम चिर-अघट आसीर!

१७

मुझे जान पडता है मैं चोर हूँ।

जब कभी पथ पर जाते हुए तुम्हारे अदृश्य चरणों की चाप मैं सुन लेती हूँ और एक अकथ्य भाव से भर उठती हूँ जिसे तुम नहीं जानते तभी मुझे जान पडता है, मैं चोर हूँ।

जब कभी अनजाने में तुम्हारे अपूर्व सौन्दर्य की एक झाँकी मिल जाती है, और मैं उसे देखते-देखते संसार के प्रति अन्धी हो जाती हूँ, तभी मुझे जान पडता है मैं चोर हूँ।

प्रियतम! इस जीवन में और इससे पूर्व हजार बार मैंने अपना जीवन तुम्हें अर्पण किया है फिर भी मुझे जान पडता है, मैं चोर हूँ।

१८

मत पूछो, शब्द नही कह सकते ।

स्वरगत यदि हो मेरा मौन तुम्हारे प्राण नही सह सकते ।

देखो, शिरा शिरा है सिहरी—
बहा ले चली अनुभव-लहरी—
अन्तमुख कर सब सजाएँ, तुम्ही क्या न उसमे बह सकते ?

छू कर ही क्या जाता जाना
दो प्राणा का ताना-बाना ?
नीरवता का खर स्वर सुनने, मौन नही क्या तुम रह सकते ?

मत पूछो, शब्द नही कह सकते ।

१९

मैं गाती हूँ, पर गीतो के
भाव जगाने वाला तू
मैं गति हूँ, पर मेरी गति मे
जीवन लाने वाला तू ।

मैं वीणा हूँ—या हूँ उस के
टूटे तारो की वाणी—
उस से सम्मोहन सजीवन
ध्वनि उपजाने वाला तू ।

मैं आरती किन्तु प्राणा के
मगल-दीप जलाता तू,
मैं बहुरगा की बिछलन, पर
उस से चित्र बनाता तू ।

१६

तुम चिर-अगाध आलोक !

तुम घोर निशीथ ज्वाल की ऊष्मा तप्त पुकार
तुम सघन-श्यामल व्योम से उन्माद धारागार
तुम शीत के विच्छिन्न धूमिल कम्पमय संसार –
तुम मधु निशा के विपुल पुलकित प्राण रस-संचार !

तुम राग-व्यथा सहचार तुम्हें बाँधे जगत का भार,
पर सह-पथिक आदिम अनादि तुम्हीं अपरिमित प्यार।
तुम सकल जीवन की तृषा तुम हूक एक सन्देह—
तुम स्वाति-सा घन-तरल किन्तु सदा अकाल स्नेह !

तुम चिर-अगाध आलोक !

१७

मुझे जान पडता है, मैं चोर हूँ।

जब कभी पथ पर जाते हुए तुम्हारे अदृश्य चरणों की चाप मैं सुन लेती हूँ और एक अकथ्य भाव से भर उठती हूँ जिसे तुम नही जानते तभी मुझे जान पडता है मैं चोर हूँ।

जब कभी अनजाने में तुम्हारे अपूर्व सौन्दर्य की एक झाँकी मिल जाती है और मैं उसे देखते-देखते संसार के प्रति अन्धी हो जाती हूँ तभी मुझे जान पडता है, मैं चोर हूँ।

प्रियतम ! इस जीवन में और इससे पूर्व हजार बार मैंने अपना जीवन तुम्हें अर्पण किया है फिर भी मुझे जान पडता है, मैं चोर हूँ।

१८

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते !

स्वरगत यदि हो मेरा मौन तुम्हारे प्राण नहीं सह सकते !

देखो, शिरा शिरा है सिहरी—
बहा ले चली अनुभव-लहरी—
अन्तर्मुख कर सब संज्ञाएँ, तुम्हीं क्या न उसमें बह सकते ?

छू कर ही क्या जाता जाना
दो प्राणों का ताना बाना ?
नीरवता का खर स्वर सुनते, मौन नहीं क्या तुम रह सकते ?

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते !

१९

मैं गाती हूँ, पर गीतों के
भाव जगाने वाला तू
मैं गति हूँ, पर मेरी गति में
जीवन लाने वाला तू !

मैं वीणा हूँ—या हूँ उस के
टूटे तारों की वाणी—
उस से सम्मोहन, संजीवन
ध्वनि उपजाने वाला तू !

मैं आरती किन्तु प्राणों के
मंगल-दीप जलाता तू
मैं बहुरंगों की विछलन, पर
उस से चित्र बनाता तू !

तुहिन बिन्दु मैं इन्दु किरण तू
उस पर चमकाने वाली—
मैं प्रेरण, तू जीवन-दाता,
मैं प्रतिमा निर्माता तू !

२०

प्राण अगर निर्झर-से होते
पृथ्वी-सा यह मेरा जीवन—
तू होता सुदूर वारिधि सा
तेरी स्मृति लहरों की गर्जन,

प्रणय ! जब तेरे मन भाने
मैं युग युग बहती ही बहती
अथक स्वरों से अनगिन दिन तक
वही बात बस कहती रहती !

हा, विडम्बना ! हो निर्वाक
नहीं जो कहते-कहते थकती—
अब वाणी पा कर भी प्रणय !
नहीं तुझ से ही हूँ कह सकती !

मुझ में युग युग हँसते तेरी
विपुला आभा के लघु जल-कण
प्राण अगर निर्झर-से होते
पृथ्वी-सा यह मेरा जीवन !

२१

मेरे इस जीर्ण कुटीर में—जिस में वर्षा वायु निदाघ शीत वसन्त की असंख्य सुरभियों और जीवन की असंख्य पीडाओं प्रत्येक ने अपने अपने सुभीते के लिए असंख्य प्रवेश मार्ग बना रखे हैं—द्वार एक ही है।

यह वह द्वार है जिस की आड मे खडे होकर मैंने पहले पहल तुम्हें देखा था, या एक मात्र बार देखा था क्योकि एक बार तुम्हे देख कर इन आखो ने तुम्हारी छवि को ओझल कब होने दिया ?

एक दिन, मैं उसी द्वार के सहारे मूक खडी थी। सन्ध्या थी, किन्तु ऐसी मेघाच्छन्न कि उस मे न विविध रगो का विन्यास था, न पक्षियो का आकुल कलरव न मेरे प्राणो मे ही वह भव्य, विस्मित लालसा और आशका के सम्मिलन से कम्पायमान प्रतीक्षा थी जिस से—फिर मेरा चिर-परिचय हो गया मैं देख रही थी पथ की ओर, तभी तुम उस पर से हो कर जा रहे थे। तुमने मुझे देखा—तुमने यह देखा कि मैं वहा मूक खडी तुम्हे निहार रही हूँ।

तुम्हे किसने कहा था कि तुम उसी प्रकार निरीह उपेक्षा मे मत चले जाओ किसने कहा था कि मेरी ओर न देख कर भी मेरी उत्सुकता को जान कर, मानो उसी के बराबर उठ आओ, उसे स्वीकार कर लो और ले जाओ कि मैं खडी रह जाऊँ—पूर्ववत किन्तु अपूर्व पूर्ण किन्तु लुटी हुई मायक किन्तु व्यथ।

तुम चले गये। उसी दिन के बाद, जाने कितनी वर्षाएँ आयी अभिसार की सूनी रातें लिये, कितनी आधियां वही तृष्णाओ की धूल उडाती हुई कितने वसन्त आये सौरभ भार लिये, कितने जीवन-अनुभव आये अकथ पीडाएँ सभाले, और प्रत्येक ने अपने अपने लिए असख्य मार्ग बना लिये। किन्तु मैं जानती हूँ, उस दिन से मेरे छिन्न भिन्न जीर्ण कुटीर मे एक ही द्वार है जिस की आड से मैंने तुम्हे देखा था देखती हूँ और देखती रहूँगी।

२२

शशि जब जा कर फिर आये—
सरसी तब शून्य पडी थी।
मुख से रोमाचित होती
कुमुदिनी कही न खडी थी।

शशि मन मे हँस कर बोले—
मुग्धा से परिणति होगी ?

एकायन

सारगी म शीश छिपा कर
मुझ से क्या मान करोगी ?'

ओ दप मूर्त शशि ! सोचो—
मानिनि क्या मान छिपाती ?
या उस म आवृत हो कर
अधिकाधिक सम्मुख आती !

वह छिपी लिये यह इच्छा—
भूला सुख पुन जगा ले—
तेरा ही शीतल चचल
कर उस का घूघट निकाले !

२३

गगा कूल सिराने ओ लघु दीप—
मूक दूत से जाओ सिन्धु समीप !

ढुलक ढुलक ! नयनो से आसू धार !
कहा भाग्य ले उन के पाव पखार

२४

पीठिका मे शिव प्रतिमा की भाँति मेरे हृदय की परिधि मे तुम्हारा अटल आसन है।

मैं स्वय एक निरथक आकार हूँ किन्तु तुम्हारे स्पश से मैं पूज्य हो जाती हूँ क्योकि तुम्हारे चरणो का अमृत मेरे शरीर मे सचारित होता है।

२५

पथ म आँखें आज बिछी
प्रियदशन ! तेरा दशन पा के,

तोड बाध अस्तित्व मात्र के
आज प्राण वाहर है झाके,

पर मानस के तल मे जागृति
स्मृति यह तडप-तडप कहती है—
प्रेयस ! मन के किरण-कर तुझे
घेरे ही तो रहे सदा के।

२६

आओ, इस अजस्र निझर के तट पर
प्रिय, क्षण भर हम नीरव
रह कर इस के स्वर म लय कर डालें
अपने प्राणो का यह अविरल रौरव ।

प्रिय ! उस की अजस्र गति क्या कहती है ?
'शक्ति ओ अनन्त ! ओ अगाध !'
प्राणा की स्पन्दन गति उस के साथ-साथ रहती है—
मेरा प्रोज्वल क्रन्दन हो अबाध ।

प्रिय, आओ इस की सित फेनिल स्मित के नीचे
तप्त किन्तु कम्पन श्लथ हाथ मिलाकर
शोणित के प्रवाह म जीवन का शथिल्य भुला कर
किसी अनिवच सुख से आखें मीचे
हम खो जावें वैयक्तिक पाथक्य मिटा कर ।

ग्रथित अगुलियाँ, कर भी मिले परस्पर—
प्रिय हम बठ रहे इस तट पर ।
और अजस्र सदा यह निझर
गाता जावे, गाता जावे, चिर-एकस्वर ।

पर, एकस्वर क्या ? देखो तो, उडते फेनिल
रजतकणा मे बहुरगा का नत्तन ।

क्यो न हमारा प्रणय रहेगा स्वप्निल
छायाओ का शुभ्र चिरन्तन दपण !

इन सब स देहो को आज भुला दो !
क्षण की अजर अमरता म बिखरा दो !
उर मे लिये एक ललकार सुला दो
चिर जीवन की आछी नश्वरताएँ !
मर जायें बह जायें सब बह जायें !

वह अजस्र बहता है निर्झर !
आओ, अजलि वद्ध खडे हम शीश नवा ले !
उठे कि सोये प्राणा म पीडा का ममर —
हम अपना-अपना सब कुछ दे डालें -
मैं तुम को, तुम मुझे परस्पर पा ले !
मूक हो वह जय गा लें —
जो अजस्र बहुरगमयी जसे यह निझर -
यह अजस्र जो बहता निभर !

२७

प्रियतम ! देखो ! नदी समुद्र स मिलन के लिए किस सुदूर पवत के आश्रय से किन उच्चतम पवत शृ गा को ठुकरा कर किस किस पथ पर भटकती हुई दौडी हुई आयी है !

समुद्र से मिल जाने के पहले उसने अपनी चिर-सचित स्मृतिया अपने अलकार-आभूषण अपना सवस्व अलग कर के एक ओर रख दिया है जहा वह एक परित्यक्त केंचुल-सा मलिन पडा हुआ है।

और प्रियतम ! इतना ही नही वह देखा नदी ने यद्यपि कुछ दूर तक समुद्र का रग दिया है अवश्य तथापि अपने मिलन म उसने अपना स्वभाव भी उत्सग कर दिया है वह अपन प्रणयी के साथ लवण और अग्राह्य हो गयी है !

प्रियतम ! देखा

२८

मैं अमरत्व भला क्यों मागू ?

प्रियतम, यदि नितप्रति तेरा ही
स्नेहाग्रह-आतुर कर-कम्पन
विस्मय से भर कर ही खोले
मेरे अलस निमीलित लोचन,

नितप्रति माथे पर तेरा ही
ओस बिन्दु सा कोमल चुम्बन
मेरी शिरा शिरा मे जागृत
किया करे शोणित का स्पन्दन,

उस स्वप्निल सचेत निद्रा से प्रियतम ! मैं कब जागू !
मैं अमरत्व भला कब मांगू !

२६

प्रियतम क्या यह ढीठ समीरण
किस अनजाने क्षण मे आ कर
जाता है बिखरा बिखरा कर
मेरे राग भरे ओठों का सम्भ्रम नीरव कम्पन ?

प्रियतम क्या यह सौरभ छनिया
मेरा दीर्घ प्रयास विफल कर
इस अबाध म गल घुल मिल कर
सम्मद परस्पर उलझा जाता मेरी अनकाबलिया ?

प्रियतम क्या य हिमकर-तारे
तम से भर कर मेरे लोचन

हर बार उनका अभिव्यंजन था
मुझे सूने तमसा रजनी में घुट-घुट जाना भार ?

प्रियतम क्या यह गति जीवन की,
कर अभिभूत अमित अवनी को
फली नीरव प्रणय-कली को
सृष्टि जीत कर भी रह जाती भूखी मेरे धन की ?

प्रियतम मेरी ओछी क्षमता
प्रेमशक्ति भी पा न बनी क्या ?
मैं निर्बल विमूढ़ खड़ी क्या ?
अपने को अपनाने में ही विघ्न हुई क्या ममता !

३०

मेरे आरती के दीप !
तिरते तिरते बहते जाओ सिन्धु के समीप !

तुम स्नेह-पात्र उर के मेरे—
मेरी आभा तुम को घेरे !
अपना राग जगत का विस्मृत आँगन जावे लीप !
मेरे आरती के दीप !

हम-तुम किस के पूजा-साधन ?
किस की न्योछावर अपना मन ?
प्रियतम ! अपना जीवन मन्दिर कौन दूर द्वीप !
मेरे आरती के दीप !

३१

मैं तुम क्या ? बस सखी सखा !
तुम होओ जीवन के स्वामी मुझ से पूजा पाओ—

या मैं ही होऊँ रवि जिस पर तुम अर्घ्य चढ़ाओ,
तुम रवि जिस का तुहिन बिन्दु सी मैं मिट कर ही जाऊँ —
या मैं दीप शिखा जिस पर तुम जल जल जीवन पाओ,
क्या यह विनिमय जब हम दोनों ने अपना कुछ नहीं रखा ?
मैं-तुम क्या ? बस सखी-सखा !

क्यों तुम दूर रहो जस संध्या से संध्या तारा ?
मैं क्या बद्ध अलग, जैसे वारिधि से अलग किनारा ?
हम बन्धन का साहस क्या मधुर नियम भी पायें ?
तुम अबाध, मैं भी अबाध हो अनथक स्नेह हमारा !
प्रिय प्रेयसि रह कर कब किसने उस का सच्चा रूप लखा !
मैं तुम क्या ? बस सखा-सखा !

३२

यह भी क्या बन्धन ही है ?

ध्येय मान जिस को अपनाया
मुक्त-कण्ठ से जिस को गाया
ममता जिस की जय-हुंकार,
पराजय का क्रन्दन ही है ?

अरमानों के दीप्त सितारे
जिस में प्रतिपल अनगिन तारे
मेरे स्वप्नों का प्रशस्त पथ
आशाहीन गगन ही है ?

तुझे देख जो अन्तर रोया
कम्पित विह्वलता में खोया
अटल मिलन की ज्योति न हो कर
पीड़ा का स्पन्दन ही है ?
यह भी क्या बन्धन ही है ?

३३

मेरी पीडा मेरी ही है
तुम्हें गीत ही मैं दूँगी—
यदि असह्य हो, क्षण भर चुप रह
यति में उसे छिपा लूँगी।

३४

शायद तुम सच ही कहते थे—
वह थी असली प्रेम-परीक्षा।
मेरे गोपनतम अन्तर के
रक्त-कणों से जीवन-दीक्षा।

पीडा थी वह थी जघन्य भी
तुम थे उस के निर्दय दाता।
तब क्या मन आहत होकर भी
तुम पर रोष नहीं कर पाता?

तब सुझाता घृणा करूँ पर
यही भाव रहता है घेरे—
तुम इस नयी सृष्टि के स्रष्टा
क्रूर क्रूर पर प्रणयी मेरे।

३५

ओ तू जिसे आज मैंने सह-पथिक लिया है मान
हे मन कुछ न माँग तू मुझ से कोई भी वाग्दान
लेन देन ही है क्या इस परमाहुति का सम्मान?

जहाँ दान है वहाँ कभी टिक सकते हैं अधिकार?
शब्दों ही में बँध जायगा आत्माओं का प्यार?
माँग न अनुमति आ तू! सारे खुले पड़े हैं द्वार!

काया छाया, ज्योति तिमिर म रह परस्पर भाव—
मुझे परस्परता म भी कटु झलक रहा अलगाव—
हम-तुम पहुँचें जहा न हा सीमाए और दुराव !

ईश्वर बन कर म ज शक्ति से छ् दे मरा भाल—
दानव हो कर चूर चूर कर दे मरा कक्काल—
मात्र पुरुष रह बाँध भुजो स मर्माहत कर डाल !

मुझे सिखा दे सुनना केवल तरा ही निर्देश—
तेरे अभयद कर की छाया म करना उ मेष,
अपना रहना अपनेपन को द कर तेरा वेश !

३६

'चक्रवाकवधुके ! आम त्रयस्व सहचर । उपस्थिता रजनी ।'

गोधूली की अरुणानी अब बढ़त बढ़ते हुई घनी
वधुके, जान दो सहचर को अब है उपस्थिता रजनी !
दिन म था सुख साथ, किन्तु अब
अवधि हा गयी उस की शेष—
पीडा के गायन म हो
स्वप्ना का कम्पित नयन निमष !
रजनी है अवसान समाप्त प्रणय है,
पर देखो सब ओर—
विरह-व्यथा की है विह्वल रक्तिम
रागिनी बनी अवनी !
वधुके, जान दो सहचर को अब है उपस्थिता रजनी !

३७

मैंन देखा सान्ध्य क्षितिज का
चीर गगन म छाये तुम

मैंने देखा, सोता म स
धीरे धीरे आये तुम ।

शशि टटोलने आये किरण
करा स रजनी का तम म—
दखा, तुम समीप आ कर भी
एक निमिष भर सम्भ्रम म ।

दखा दख मुझे तुमन
मानो सजीवन घूट पिया—
दखा, शब्द विवश तुमन
मुख को बाहो म बांध लिया ।

जाना आँखे सिखी मिला
माना कर अधरो को निर्देश—
जाना, प्राण प्राण का अन्तर
हुआ सदा क लिए अशेष ।

पर—इस स आगे—असह्य
स्पन्दन म मन जाता है भूल
स्मति भी धीरे स कहती है
फूल फूल, बस अगणित फूल !

३८

प्रदोष की शान्ति और नीरव भव्यता म मुग्ध हो कर दार्शनिक बोला, ईश्वर कसा सर्वज्ञ है ! दिवस के तुमुल और श्रम के बाद कितनी सुखद है यह सन्ध्याकालीन शान्ति !

निश्चल और तरल वातावरण को चीरती हुई दार्शनिक का ध्यान भग करती हुई न जाने कहाँ स आयी चक्रवाकी की करण पुकार प्रियतम, तुम कहां हो ?

३९

अपने तप्त करों में ले कर तेरे दोनों हाथ—
मैं सोचा करती हूँ जाने कहाँ कहाँ की बात!

तेरा तरल मुकुर क्यों निष्प्रभ शिथिल पड़ा रहता है
जब मेरे स्तर स्तर में ज्वाला का झरना बहता है?

क्यों, जब मैं ज्वाला में बत्ती-सी बढ़ती हूँ आगे—
अग्नि शिखा से तुम ऊपर ही ऊपर जाने भागे?

मैं सोचा करती हूँ जाने कहाँ कहाँ की बात—
अपने तप्त करों में ले कर तेरे दोनों हाथ!

४०

प्रियतम! जानते हो, सुधाकर के अस्त होते ही कुमुदिनी क्यों नत मस्तक हो कर सो जाती है?

इस लिए नहीं कि वह प्रणय से थकी होती है।
इस लिए नहीं कि वह वियोग नहीं सह सकती।
इस लिए नहीं कि वह सूर्य के प्रखर ताप से कुंठित हो जाती है।

प्रियतम! वह इस लिए है कि वह एक बार फिर सुधाकर की शीतल ज्योत्स्ना में जागने का सुख अनुभव करना चाहती है, वह चाहती है सुधाकर के कोमल स्पर्श से चौंक कर उठ कर एक अलस सलज्ज विस्मय में सिमटते हुए भी प्रकट हो कर पूछना, 'जीवन, तुम्हीं हो?'

४१

प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की!
आँख व्यथा करे देती है खुली जा रही स्पंदित छाती
अखिल जगत ले आज देख जी भर मुझ गरीबनी की थाती,

सुनल, आज बावली आती
गाती अपनी अवश प्रभाती
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

बीती रात, प्रात शिशु को उर से चिपटाये आयी ऊषा—
लुटा रही हूँ गली गली मैं अपने प्राणों की मंजूषा—
मुझ पगली की बिखरी भूषा—
आज गूदडी में मेरी उन की मणियों की माला चमकी—
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

मेरा परिचय ? रजनी मेरी माँ थी तारे सहचर
मेरा घर ? जग को ढँप लेने वाला नगा अम्बर—
मेरा काम ? सुनाना दर-दर
महिमा उस निर्मम की !
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

मैं पागल हूँ? हाँ, मैं पागल, ओ समाज धीमान् सयाने !
तेरी पागलपन की जूठन मैंने बीनी दाने-दाने—
यही दिया मुझ को विधना ने
मैं भिखमगी इस आलम की !

तू सँभाल ले अपना वैभव अपने बन्द खजाने भर ले,
ओ अश्रद्धा के कुबेर ! निज उर में बोझ घृणा के भर ले—
तेरे पास बहुत है तो तू उसे छिपा कर घर ले—
मुझ को क्या देता है धमकी ?
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

मैं दीना हूँ, मेरा धन है प्यार यही तेरा ठुकराया
किन्तु बटाने को उतना ही मेरा मन व्याकुल हो आया—
एक अकेली ज्योति किरण से पुलक उठी है मेरी काया
मैं क्या मानूँ सत्ता तम की ?
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की !

तू इन आँखों के आगे बस स्थिर रह अरे अनोखे मेरे
खड्गधार की राह बना कर पास आ रही हूँ मैं तेरे,
मुझ को कैसे घाट बसेरे ?
मेरी खेल बड़े जोखम की।
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की।

वन में रात पपीहे वाले, घन में रात दामिनी दमकी—
नभ में प्रात छा गई स्मित उस अभिसारी मेरे निरुपम की—
प्रियतम मेरे मैं प्रियतम की।

४२

शशि रजनी से कहता है
'प्रेयसि, बोलो, क्या जाऊँ ?'
कहता पतंग से दीपक
यह ज्वाला कहो बुझाऊँ ?'

तुम मुझ से पूछ रहे हो—
'यह प्रणय-पाश अब खोलूँ ?
इस को उदारता समझूँ—
या वक्ष पीट कर रो लूँ।

४३

मृत्यु अन्त है सब कुछ ही का
फिर क्यों धींगा धींगी, देरी ?
मुझे चले ही जाना है तो
बिदा मौन ही हो फिर मेरी।

होना ही है यह तो प्रियतम।
अपना निर्णय शीघ्र सुना दो—
नयन मूँद लूँ मैं तब तक तुम
रस्सी काटो, नाव बहा दो।

प्रियतम एक बार और एक क्षण भर के लिए और !

मुझे अपनी ओर खींच कर, अपनी समर्थ भुजाओं से अपने निश्वास भरे हृदय की ओर खींच कर, संसार के प्रकाश से मुझे छिपा कर, एक बार और खो जाने दो, एक क्षण भर के लिए और समझने दो कि वह आशंका निर्मूल है, मिथ्या है !

४५

जाना ही है तुम्हें चले तब जाना
पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना
मुझ से मन कुछ कह कर जाना !

सेवक होवे बाध्य कि अनुमति ले कर जावे
और देवता भी भक्तों के प्रति यह शिष्टाचार दिखावे
पर तुम प्राण सखा तुम ! मेरे जीवन खेलों के चिर सहचर !
क्या उस का सुख नष्ट करोगे पहले ही से विदा माँग कर !

किसी एक क्षण तक अपना वह खेल अनवरत होता जावे
मैं यह समझी रहूँ कि जैसे
भूत युगों में तुम संगी थे वैसे
साथ रहेगा आगामी भी युगों-युगों तक।
फिर क्षण भर में तुम अदृश्य मैं अपलक
पीड़ा विस्मय में लखती रह जाऊँ
कहाँ रहे तुम, और न उत्तर पाऊँ—
एक थपेड़े में बुझ जावे
जीवन-दीपक का आह्लाद —
किन्तु विदा के क्षण के क्षण भर बाद !

मेरे जीवन के स्मित ! तुम को रो कर बिदा न दूँगी—
आँखों से ओझल होने तक कहनी यही रहूँगी

'आओ प्रियतम ! आओ प्रियतम !
पवन-तरी है मेरा जीवन,
तुम उस के सौरभ-नाविक बन,
दश दिशा छा जाओ, प्रियतम !
जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना,
पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना
मुझ से मत कुछ कह कर जाना !

४६

मानस के तल के नीचे
है नील अतल लहराता
तल पर लख अपनी छाया
तू लोट-लोट क्या जाता ?

है काम मुकुर का केवल
करना मुख छबि प्रतिबिम्बित—
क्या इसी मात्र से उस की
है यथार्थता परिशंकित ?

४७

मैं समुद्र-तट पर उतराती एक सीपी हूँ, और तुम आकाश में मँडराते हुए तरल मेघ।

तुम अपनी निरपेक्ष दानशीलता में सर्वत्र जो जल बरसाते हो उस की एक ही बूँद मैं पाती हूँ किन्तु मेरे हृदय में स्थान पा कर वही मोती हो जाती है।

मैं समुद्र-तट पर उतराती एक सीपी हूँ, और तुम आकाश में मँडराते हुए तरल मेघ।

हमारे जीवन एक दूसरे से एक अपरिहार्य बन्धन में बँधे हुए हैं जिस की प्रेरणा है तुम्हारी शक्ति और मेरी व्यथा से एक अमूल्य रत्न की

उत्पत्ति करना, किन्तु फिर भी तुम मुझ स कितनी दूर हो, कितने स्वच्छन्द और मैं इस विशाल समुद्र से कसी घिरी हुई कितनी क्षुद्र !

४८

जब तुम मरी ओर अपनी अपलक आंखा स एक अद्भुत जिनासा भरी दृष्टि से देखत हो जिस म ससार भर की कोई मांग है तब प्राणा के एक कम्पन के साथ मैं बदल जाती हू मुझे एक साथ ही नान होता है कि मैं अखिल सृष्टि हूँ और क्षुद्र हू कुछ नही हूँ।

प्रियतम ! प्रेम हम उठाता है या गिराता है या उठने और गिरान मात्र की तुच्छ तुलनाओ से परे कही फेंक देता है

४९

जितनी बार मैं नभ मे कोई तारा टूट कर गिरता हुआ देखती हूँ, उतनी बार मेरा अन्तर किसी पूव निर्देश हीन प्रायनासे कह उठता है 'मुझे, उससे अनत सयोग प्राप्त हो जाय !

कहते हैं कि तारे के टूटने और लुप्त हो जाने के अन्तरावकाश मे उत्पन्न और व्यक्त अभिलाषा पूण हो जाती है।

पर हमारा मिलन तो पहले ही अभिन्न है तुम और मैं तो पहले ही अनन्त सयोग मे एक हो कर खो चुके हैं तब यह शकुन कसे फलित होगा तब यह अभिलाषा कसे पूण होगी—जो अलग ही नही है वे एक कसे होगे ?

पर फिर इस अभिलाषा का उदभव क्यो होता है ?

मैं नही जानती ! मैं नहा जानती।

केवल, जितनी बार मैं नभ म कोई तारा टूट कर गिरता हुआ देखती हूँ उतनी ही बार मेरा अन्तर किसी पूवनिर्देश-हीन प्रायना से कह उठता है, मुझे उस से अनन्त सयोग प्राप्त हो जाय !

५०

'रवि गए,' जान जब निशि ने
घूघट से बाहर देखा,
शशि के मुरझाये मुख पर
पायी विषाद की रेखा।

प्रियतम से मिलने सत्वर
सम्भ्रान्त चली वह आयी।
उस को निज अग लगा कर
शशि ने जीवन गति पायी।

रविरोष अभी बाकी है',
'मिलनोचित समय नही है',
'नीलाम्बर व्यस्त हुआ है',
'भूषण - लड़ियाँ बिखरी हैं,

कब सोचा यह सब निशि ने ?
जब उस की स्त्री-आत्मा का
आह्वान किया प्रकृति ने ?

[२]

उल्लस शशि की क्रीडा में,
बीती कुछ विह्वल घड़ियाँ।
(कब तक न बनी ही जातीं
उस प्रणय लडी की कडियाँ।)

रवि के आने पर शशि ने
ली बिदा निशा से सत्वर।
चल दिया लिये प्राणो मे
निज सफल प्रेम का निर्झर।

'निशि को व्यथित न नहा है',
मैं ही हूँ उस का जावन',
'य जास विन्दु हैं उस के
विगर मूर्छित आसू न,

क्या नेत्रा यह सब शशि ने ?
जब उस के पुष्प प्रणय को
साफल्य दिया प्रकृति ने ?

५१

जब मैं वाताहत झरते फल सरीखी उस के परा म जा गिरी तब उसने निमम स्वर म पूछा—

जिस देवता के वरदान का भार सहने की क्षमता तुझ म नही थी तूने अपनी आराधना द्वारा क्यो प्रसन्न किया ?

५२

रोते रोते कठरोध है जब हो जाता
उस विष न नीरव क्षण म ही
कहती गिरा तुम्हारी स्नेही
शान्त भाव स—
किस सुख म भूली हो उन्मन ?
—जिस से तडप उठा है जीवन
निमम ! वही भुलाता !

गाते गाते हो जाता स्वर भग कभी तो
उस के कम्पन को इगित कर,
मादक आखो म क्रीडा भर
तुम कहते हो —
गायन इतना मीठा क्या है ?
उस मे विकल व्यथा-पुट जो है
प्रियतम ! हाय तभी तो !

५६

जाते जाते कहते हो—
'जीवन अब धीरज धरना।'
क्यों पहले ही न बताया
मत प्रेम किसी से करना।

तुम कहते तो मैं सुनती ?
मैं आहुति स्वयं बनी थी।
मेरी हतसंज्ञ विवशता
में चेतनता कितनी थी।

मेरे धीरज से तुम को
क्या ? अब इस को खोने दो
परिमाण प्रणय के ही में
बस रोने दो रोने दो।

५७

जीवन तेरे बिन भी है।

पत्र नहीं फल फूल नहीं हैं
परिमल नहीं पराग कहीं है
शिशिर तिमिर में नन्दन-कानन ही अब विजन विपिन भी है।

व्यथा भार से बोझल पलकें,
अश्रु-तुहिन आखों से ढलकें,
प्राणों पर तमसा छायी है पर सुनती हूँ दिन भी है।

बहा जा रहा काल निरन्तर,
घड़ी घड़ी, पल पल गिन गिन कर
पर वियोग रजनी की साँसें दीर्घ नहीं अनगिन भी है।

'आओगे', इस आशा में
'हो दूर' की छिपी तडपन—
जब स्रोत हुआ हालाहल
कसी तन्मयता जीवन।

अच्छा होता कि हताशा
अतिशय पूरी हो जाती—
तेरी अनुपस्थिति से ही
मैं अपने प्राण बसाती।

जब विरह पहुच सीमा पर
आत्यन्तिक हो जाता है—
हो कर वह आत्म भरित तब
प्रियतम को पा जाता है।

सागर जब छलक-छलक कर
भी शून्य समा पाता है—
तब किस दुस्सह स्पन्दन से
उसका उर भर आता है।

५५

दूर, नील आकाश के पट पर खचित-से उस खंडहर के झरोख म पडकुलिया का जोडा बठा है।

बेरी के वक्ष पर बठी हुई चील कठोर किन्तु किसी उग्र अनुभूति भरी पुकार द्वारा आकाश मे उडत हुए अपने सहचर का बुला रहा है।

अनभ्र आकाश की विस्तीण हल्की नीलिमा म दोपहरी का प्रकाश विलीन या व्याप्त हो कर एक अदृश्य किन्तु तीखी ज्योति म चमक रहा है।

मैं बिल्कुल अकेली हूँ।

फिर भी न जाने क्या मेर हृदय म वह जिज्ञासु तडपन न[illegible] पूछती कि 'प्रियतम, तुम कहा हो!

५६

जाते जाते कहते हो—
'जीवन, अब धीरज धरना ।
क्यों पहले ही न बताया
मत प्रेम किसी से करना ।

तुम कहते तो मैं सुनती ?
मैं आहुति स्वयं बनी थी ।
मेरी हतसन विवशता
म चेतनता कितनी थी ।

मेरे धीरज से तुम को
क्या ? अब इस को खोने दो,
परिमाण प्रणय के ही में
बस रोने दो, रोने दो ।

५७

जीवन तेरे बिन भी है।

पत्र नही फल फूल नही है
परिमल नही पराग कही है
शिशिर तिमिर म नन्दन-कानन ही अब विजन विपिन भी है ।

व्यथा भार से बोझल पलकें
अश्रु-तुहिन आखो स ढलकें
प्राणो पर तमसा छायी है पर सुनती हूँ दिन भी है ।

बहा जा रहा काल निरंतर,
घडी घडी, पल-पल गिन गिन कर
पर वियोग रजनी की साँसें दीर्घ नही अनगिन भी हैं ।

'आवोगे', इस आशा म
'हो दूर' की छिपी तडपन—
जब स्रोत हुआ हालाहल
कभी सम्भवता जीवन !

अच्छा होता कि हताशा
अतिशय पूरी हो जाती—
तेरी अनुपस्थिति से ही
मैं अपने प्राण बसाती !

जब विरह पहुच सीमा पर
आत्यन्तिक हो जाता है—
हो कर वह आत्म भरित तब
प्रियतम को पा जाता है।

सागर जब छलक-छलक कर
भी शून्य अमा पाता है—
तब किस दुस्सह स्पन्दन से
उसका उर भर आता है !

५५

दूर, नील आकाश के पट पर खचित-से उस खँडहर के झरोखे म पडकुलिया का जोडा बठा है।

बेरी के वक्ष पर बठी हुई चील कठोर किन्तु किसी उग्र अनुभूति भरी पुकार द्वारा आकाश म उडते हुए अपने सहचर को बुला रही है।

अनभ्र आकाश की विस्तीण हल्की नीलिमा म दोपहरी का प्रकाश विलीन या व्याप्त हो कर एक अदृश्य किन्तु तीखी ज्योति से चमक रहा है।

मैं बिल्कुल अकेली हूँ।

फिर भी न जाने क्यो मेरे हृदय म वह जिज्ञासु तडपन नही पूछती कि प्रियतम तुम कहाँ हो !

५६

जाते जाते कहते हो—
'जीवन, अब धीरज धरना।
क्यो पहले ही न बताया
मत प्रेम किसी से करना।

तुम कहते तो मैं सुनती ?
मैं आहुति स्वय बनी थी।
मेरी हतसंज्ञ विवशता
मे चेतनता कितनी थी।

मेरे धीरज से तुम को
क्या ? अब इस को खोने दो
परिमाण प्रणय के ही मे
बस रोने दो, रोने दो।

५७

जीवन तेरे बिन भी है।

पत्र नही फल फूल नही हैं
परिमल नही पराग कही है
शिशिर तिमिर म नन्दन कानन ही अब विजन विपिन भी है।

व्यथा भार से बोझल पलकें
अश्रु-त्रुटित आखो से ढलकें
प्राणो पर तमसा छायी है पर सुननी ह दिन भी है।

बहा जा रहा काल निरन्तर
घडी घडी, पल-पल गिन गिन कर
पर वियोग रजनी की साँसें दीर्घ नहीं अनगिन भी हैं।

मिलन यहाँ है मिथ्या, माया,
तथ्य मुझे आत्मा ने पाया,
बँधी हुई तो रहा सदा मैं, हाय आज विरहित भी है!

दीप, बुझा दो अब यह ज्वाला
कण-कण में भविष्य है काला,
ज्योति बीना की सन्ध्या में प्राण नाम मलिन भी है!

जाना तेरे बिन भी है!

१८

विस्मृति विषाक्त हाला भी पिला दो!
प्राण-वीणा मृत्यु राग में हिला दो!

तम ने घेरा आर घेरा
उचट गया जब प्यार तेरा।
टूटा जीवन-दीप मेरा—
कुचल दो इस को धूल में मिला दो!

मन के तार तार टूटे
पीड़ा धारागार फूटे।
पर कैसे यह प्यार छूटे?
इस के छिन्न प्राणों को भी जला दो!

प्रणयी का सान्निध्य खोया?
युगों-युगों का स्नेह सोया?
प्राणों का कंकाल रोया—
मर्मान्तक यह पीड़ा भी सुला दो!

विस्मृति विषाक्त हाला भी पिला दो!
प्राण-वीणा मृत्यु राग में हिला दो!

ओ तेरा यह अविकल ममर !
ओ पथ रोधक चट्टानो का भी खडित कर देने वाले !
ओ प्रत्यवलोकन के हित भी रुक कर सास न लेने वाले !
विफल जगत् का हृदय चीर कर कम-तरी के खेने वाले !

तू हँसता है, या तुझ को हँसती है कोई निदय नियति,
तू बढता है या कि तुझे ले बही जा रही जीवन की गति !
ओ अजस्र, ओ पीडा निर्झर !
ओ तरा यह अविकल ममर !

तेरी गति मे इन आँखो को पीडा ही पीडा क्या दीखी ?
तीखेपन के कारण ? पर मदिरा भी तो होती है तीखी !
मदिरा म भी चचल बुदबुद मदिरा भी करती है विह्वल,
मदिरा मे भी तो काई सम्मोहन रहता ही है बेकल !

पर—अजस्रता ! इस गतिमान चिरन्तनता की
मदिरा की मादकता म होती क्या झाकी ?
कसक अजस्र एकमात्र पीडा की !
ओ अजस्र ओ पीडा निझर !
ओ तेरा यह अविकल ममर !

कुछ भी हो हम-तुम चिरसगी इस जगती म
बढते ही बस जाने वाले द्रुत गति धीमे,
विजित विजेता, गतियुत परिमित,
आगे बढने को अभिप्रेरित—
अपर नियन्त्रण किन्तु किसी से बाधित
तुम उस अनुलघ्य गति क्रम म—
मैं, पाषाण हृदय प्रियतम स !

ओ अजस्र ओ पीडा निझर !
आ तरा यह अविकल ममर !

प्रणयी निझर ! आओ हम दोनो के
प्राणो मे पीडा भझा के धाके

एक बवडर आज उठावें—
बाध तोड कर सतत जगावें
विवश पुकारें जो नभ भर छा जावें !

एक मूक आह्वान, सदा एकस्वर
कहता जावे कहता जाव निझर—
दोनो ही के अतरतम की गूढ व्यथाएँ—
वे उद्विग्न अबाध अगाध अकथ्य कथाए !

६०

जग म हैं अगणित दीप जले।

वे जनते जनते जात हैं,
फिर निर्वापित हो जाते हैं
तब जग उन्हें कहा आता है
उस को उन का माह नहा है—
'जल जल कर फिर बुझना ही है
इस गति स छुटकारा कोनो कौन कहाँ पाता है ?
कुछ भी हो पर आज उधर
जग म है अगणित दीप जले !

एक मरी हू मैं भी लकर जा न कभी आलोकित होगा—
प्यार जगाना है पाना का जलना भी होगा अधियारा—
मुश पर बहनी जानी है एक विपनी धूमित धारा !
गाना भी गा कर रोना भी यह किन पापा का फल भागा !
किन्तु उधर
जग म है अगणित दीप जल !

एक ओर सारी जगती की ज्योतिर्माला—
और इधर, यह पीडा अम्बर, काला ।
फिर भी, मैं भी दीपक थामे खडी हुई हूँ,
स्मृति की स्पन्दित टीसो ही से जीवित पडी हुई हूँ
और उधर
जग मे हैं अगणित दीप जले ।

आज जगत् की सुन्दरता जब छीन ले गया पतझर—
उसे भुलाने वह जाता है ये सब अगणित दीप जला कर ।
इधर खडी मैं सोच रही हूँ—
जिसे भूलना है उस का ही आश्रय ले कर उसे भुलाना !
मैं ऐसी विफला चेष्टा म निरत नही हूँ ।
यदपि आज
जग मे हैं अगणित दीप जले ।

पतझर, पतझर पतझर, पतझर
गिरते पत्तो का यह अविकल सरसर
कहता जाता है—सुन्दरता नश्वर नश्वर ।
मेरे हाथो का यह दीपक मेरे प्राणो का यह स्पन्दन
तडप-तडप कर करता जाता उस का खडन ।
गये दिनो मे कभी नही जब पात झरे थे,
डार डार पर जब फूलो के भार भरे थे
अवनी भर पर खेल रही थी यौवन-जीवन की छायाएँ—
मृदु अनामिका से मलयानिल
देता भालबिन्दु-सा परिमल,
गले-गले मे डाल डाल जाता सौरभ मालाएँ ।—
गये दिनो म कभी, अपरिचित एक बटोही आया
उस के निमम हाथो मैंने दीप एक यम पाया ।
अक छिपाये, भर भर स्नेह लिये यह अभी खडी हूँ—
और, पात झरते जाते हैं और, नही वह आया ।
और उधर
जग म हैं अगणित दीप जले ।

बुझे—अनजले दीपक ! मेरे जीवन की गुदरत !
अब अपने सकेत ! नही क्या छूट हाथ से गिरते !
गया बटोही, बीता मधु भी पून हो गये स्मृतियाँ—
जब सूखो जीवन शाखा के पात पात हैं झरते !
पर जीवन मवस्व ! रहा बन मेरे एक सहारे—
जग वे दीपक एक एक निर्वापित होगे सारे !
वे मरणा मुख सफल—और तुम असफल जीवन आतुर
तुम पीडा हो पर अजस्र वे सुख हैं पर क्षणभगुर !
मैं हूँ अधकार म पर विश्वास भरी हूँ रोती—
पीडा जाग रही है यद्यपि दीप शिखा है सोती—
वे सब—विधि से गये छले—
जग म है अगणित दीप जले !

६१

रहने दे इन को निजल
ये प्यासी भी जी लेंगी—
युग युग से स्नेह ललायित—
पर पीडा भी पी लेगी !

अपनी वेदना मिटा लू ?
उन का वरदान अमर है !
जी अपना हलका कर लू ?
वह उन की स्मृति का घर है !

सवथा वथा ही तूने
ओ काल ! इन्ह ललकारा।
तू तृण-सा बह जाये यदि
फूटे भी आँसू धारा !

आँखें मधु माँग रही है
पर पीडा भी पी लेंगी,
रहने दे इन का निजल
ये प्यासी भी जी लेंगी।

६२

नित्य ही सन्ध्या को कुमुदिनी स्वप्न म देखा करती है कि चन्द्रोदय हो गया है, और वह अभी मायी पडी है, और चन्द्र आ कर अपन शुभ्र, कोमल, हिम शीतल ज्योत्स्ना-करा से उसे उठा कर कहते हैं प्रिये, अभी उठी नहीं ?'

इस कल्पना से उस का अलसाया हुआ शरीर सिहर उठता है।

पर नित्य ही सन्ध्या को कुमुदिनी निराशा की विवशता से उत्पन्न आशा ले कर अपने हृदय की मधु मजूषा खोल कर शशि के आने से पहले ही सत्कार-तत्पर हो कर खडी हो जाती है।

जो कल्पना स्वय अपने विनाश का आधार होती है वह वास्तविकता के निर्माण मे महायक नही हाती।

६३

गायक! रहने दो इन का, ये कातर तार विचारे
रुद्धस्वर के ही खिचाव स टूट रह हैं सारे।
यदपि नही निज व्यथा-कथा रोने राते वे थकते—
मीड न दो! आशा का कम्पन तार नही सह सकत।

६४

समीरण के झाके मे फूल हसते हैं, और खिल कर एकाएक कह देते हैं प्रियतम, अब जाना मत!'

पर मेरी वाणी तुम्हारे आन पर भी स्तब्ध, मूढ नीरव ही रह जाती है।

गंभीरण पूना को भुना कर कहना है 'अब गा जाआ !' और जाते हुए उन के अलस ओठों पर चुम्बन अंकित कर जाता है।

तुम्हारे जाने पर मेरी इच्छा यही रह जाती है कि मुझ पर कहीं तुम्हारा चिह्न हो जिसे मैं मरते समय भी अभिमान और शान्तिपूर्वक धारण कर सकूँ।

६८

क्या खंडित आशाएँ ही
है धन अपने जीवन का ?
क्यों टूट नहीं जाता है
धीरज इस कुचले मन का ?

कहते हैं घटनाओं की
पहल घिरती छायाएँ—
क्यों नहीं मिलन-क्षण में ही
फिर मेरा माथा ठनका ?

६६

आज विदा !

पीडा के दिन बीत जाते—
कभी प्राण जागेंगे गाते !
याद मुझे भी तब कर लेना प्रियतम ! यदा-कदा !

टूट जायें इस जग के बंधन—
एक रहेगा अंत स्पन्दन !
स्मृति ही नहीं बसेंगे मुझ में तेरे प्राण सदा !
पर आज विदा !

६७

दीपक के जीवन में कई क्षण ऐसे आते हैं, जब वह अकारण ही या किसी अदृश्य कारण से एकाएक अधिक दीप्त हो उठता है पर वह सदा उसी प्रोज्वलतर दीप्ति से नहीं जल सकता।

प्रेम के जीवन में भी कई ऐसे क्षण आते हैं जब अकस्मात ही उस का आकर्षण दुर्निवार हो उठता है पर वह सदा उसी खिंचाव का सहन नहीं कर सकता।

फिर, प्रियतम! हम क्या चाहते हैं सदा इस ऊर्ध्वगामी ज्वाला की उच्चतम शिखा पर आरूढ़ रहना।

६८

दोनों पंख काट कर मेरे
मुझ को ला फेंका निर्मोही तूने किस घनघोर अँधेरे।
ये अभ्यासी प्राण अनन्त
गगन में विचरण करने के—
गीतों में नभ नभ में निज
निर्बाध गीत बस भरने के।
किसी विफलता में सब हेरे।

आज तुम्हारी किरण कभी जा
भटकी-सी आ जाती है—
अक्षमता के विवश भान से
और मुझे तड़पाती है।
रो लेती हूँ आँख फेरे।

किन्तु तुझे क्या कहूँ कि तूने
ही उड़ना सिखलाया था,
क्षेत्र नहीं है पर अनुभव
उपहार तुझी से पाया था।

प्राण ऋणी हैं फिर भी तर !
यद्यपि ला फेंका निर्मोही तू किस मनधार अरे--
दाना पत्त काट कर मर !

६९

पुरुष ! जो मैं दीखती हूँ वह म हूँ नही किन्तु जो मैं हूँ उसे मत ललकारो !

तुम्हे क्या यह विश्वास ही हो गया है कि मुझ म अनुभूति-क्षमता नही है ?

तुम क्या सचमुच ही मानते हो कि म केवल माम की पुतली हूँ कोमल चिकनी बाह्य उत्ताप से पिघल सकने वाली किन्तु स्वय तपाने के भस्म करने के लिए सवथा असमथ ?

मुझ म भी उत्ताप है मुझ म भी दीप्ति है, म भी एक प्रखर ज्वाला हूँ। पर म स्त्री भी हूँ इस लिए नियमित हूँ तुम्हारी सहचरी हूँ इस लिए तुम्हारी मुखापक्षी हूँ तुम्हारी प्रणयिनी हूँ इस लिए तुम्हारे स्पश के आगे विनम्र और कोमल हूँ।

पुरुष, जो म दीखती हूँ वह म हूँ नही किन्तु जो म हूँ उसे मत ललकारो !

७०

म तुम से अनेक बार जान बूझ कर झूठ कहती आयी हूँ। किन्तु उस के लिए मेरे हृदय मे अनुताप नही है क्योंकि म नित्य ही आत्म दमन की घोर यातना म उस का प्रायश्चित्त कर लेती हूँ।

म अपने को एक बार तुम्हे समर्पित कर चुकी हूँ। मने अपना अस्तित्व मिटा दिया है। अब जो म हूँ वह है केवल तुम्हारी रुचियो तुम्हारी इच्छाओ तुम्हारी कामनाओं तुम्हारी भूख-प्यास तुम्हारे आदश की पूर्ति मे निरत हो कर अपने को मटियामेट कर देने वाली मेरी शक्ति जिस का तुमने वरण किया है।

इस प्रकार अपने मे केवल मात्र तुम्हें प्रतिबिम्बित करने की उत्सगपूण चेष्टा मे मैं तुम से अनेक बार जान-बूझ कर झूठ कहती आयी हूँ किन्तु

उस के लिए मेरे हृदय म अनुताप नही है, क्याकि म नित्य ही आत्म-दमन की घोर यातना म उस का प्रायश्चित्त कर लेती हूँ ।

७१

प्रियतम ! कसे तुम्ह समझाऊँ कि वह अहकार नही है ?

वह आत्म दमन है घोर यातना है, किन्तु वह मेरा स्त्रीत्व का अभिमान भी है, मर प्राणा की अभिन्नतम पीडा जिस के बिना मैं जी नही सकती !

७२

चौंक उठी मैं, मुझे न जाने
क्या सहसा आभास हुआ—
तेरे स्नेहसिक्त कर ने
मेरी अलका का छोर छुआ !
कितना दुस्सह उल्लास हुआ !

टूट गया वह जागृत-स्वप्न
कि जिस म मन उलझाय थी—
जाना, वही बुलाता है
जिस पर मैं ध्यान जमाय थी।
प्राणो म जिसे बसाय थी।

कहाँ ! किसी सूखे-से तरु से
पात गिरे थे दो झर कर—
और फरास किसी शाखे से
आहत, रोये थे सर-सर !
दुख भरे, दीन पीडा-जजर !

७३

प्रिय, तुम हार हार कर जीते !

जागा सोया प्यार सिहर कर
प्राण अर्घ्य से आखें भर भर।
स्पर्श तुम्हारे से जीवित है दिन व क्ब के वीते !

कैसे मिलन विरह के बंधन ?
क्यों यह पीडा का आवाहन ?
काप कभी जो साथ भरे थे हो सकते क्या रीते !
प्रिय तुम हार-हारकर जीते !

७४

तेरी स्मित ज्योत्स्ना के अर्णव
म मैं अपना आप डुबो लू—
तेरी आँखो मे आँखें खो
अपना अपनापन भी खो लू—

वह जावे प्राणो म सचित
युग-युग का वह वसुप व्यथा का—
तेरे आँचल से मुह ढक कर
एक बार मैं जी भर रो लू !

७५

इस मन्दिर से तुम होगे क्या ?
इन उपासको स क्या मुझ को ?
ये तो आते ही रहते हैं।
जहाँ देव के चरण छू चुके—
सौरभ निर्झर ही बहते हैं।

अब भी जीता पदस्पर्श ? मुझ
को यह बतला दोगे क्या ?

कितने वर्ष बाद आयी हूँ
उन पर अपनी भेंट चढ़ाने !
मैं चिर विमुख झुका कर मस्तक
कालान्तर को आज भुलाने !
क्या बोलूँ—यदि बोल भी सकूँ !
तुम आदेश करोगे क्या ?

पीठ शून्य भी हो, आँखें क्या
करें न चरण-स्मृति का तर्पण !
देव ! देव ! उर आरति-दीपक !
यह लो मेरा मूक समर्पण !

मेरी उग्र दिदृक्षा को
माया से भी न वरोगे क्या ?
इस मंदिर में तुम होगे क्या ?

७६

प्रियतम आज बहुत दिन बाद !
आँखों में आँसू बन चमकी तेरी कसक भरी-सी याद !

आज सुना है युगों-युगों पर
तेरे स्वर का मीठा मर्मर—
जिसे डुबाये था अब तक जग का वह निष्फल रौरव-नाद !
प्रियतम आज बहुत दिन बाद !

छिन्न हुआ अँधियारा अम्बर
चला नाचता सा वह घर-घर
विपुल राशि में संचित था जो मेरे प्राणों में अवसाद !
प्रियतम आज बहुत दिन बाद !

रो लेने दो मुझ को जी भर
यही आज सुख सब से बढ़ कर !
मुझे न रोको आज कि मुझ पर छाया है उत्कट उन्माद !
प्रियतम आज बहुत दिन याद !

७७

रजनी ऊषा में हुई मूक
कुछ रो रो कर कुछ काँप-काँप
इस असह ज्योति से बचने को
मैंने मुख अपना लिया ढाँप !

याचना मात्र से कब निधि
पा लेगा जो था सदा क्षुद्र ?
युग युग की प्यासी हो कर भी
धूली क्या पी लेगी समुद्र !

मैं झुकूँ डुबाते बह जाओ
जो मेरे ही दुर्धर प्रवाह—
हे अतुल ! सोख लो अपने में
मेरे उर का सद्योत दाह !

७८

अगर तुम्हारी उपस्थिति में मैं अभिमान और अहंकार से भर जाती हूँ—

तो प्रिय ! तुम उस धूली के अभिमान की याद कर लिया करो जो कि तुम्हारे परों के नीचे कुचली जा कर क्रुद्ध सर्प की तरह फुफकार कर उठ खड़ी होती है !

७९

बार-बार रौरव जग का
मेरा आह्वान किया करता है
मेरी अन्तर्ज्योति बुझा
देने को तम से नभ भरता है।

पर प्रियतम! जिन प्राणों पर
पड़ चुकी कभी भी तेरी छाया—
उन्हें खींच लेने की शक्ति
कहाँ से लावे उस की माया!

नीरव उर-मन्दिर में यह मन
तेरा ध्यान किया करता है—
यद्यपि सदा रौरव जग का
मेरा आह्वान किया करता है।

८०

मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उस के लक्ष्य, मेरे आराध्य नहीं हो।

मेरे उरस्थ मेरा तुम्हारे प्रति प्रेम—उस प्रेमव्रत के सम्यक उद्यापन की कामना में निरत मेरी उग्र शक्ति—ही मेरी आराध्य है।

तुम? तुम हो उस आराधना के आरती-दीप मेरे सहयोगी मेरी उपासना को दीप्ति देनेवाले मेरे प्रज्वलित प्राण! पर मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है तुम उस के लक्ष्य मेरे आराध्य, नहीं हो।

नीरसता भी हुई पल्लवित,
मेरा अंग-अंग मधु-प्लावित
मद रस में भर हरी हो गयी मेरे उर की पीर।

तेरा प्यार, सुरभि-सा कोमल
अंगराग-सा छाया परिमल,
आयी हूँ अवगाहन करने स्नेह-नदी के तीर।

शीत शिशिर के सूखे सपन
फिर अब क्या दिन होंगे अपने ?
अब मधु ही है प्राण हमारा हम-तुम एक शरीर।
शीत के घन अम्बर का चीर।

८३

ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे।
मेरा जीवन तेरी चेरी
अंजलि वसुधा प्राणों ने दी
पीड़ा में तोले, हृदभेदा
भावों से जनम लेती की सदा आरती तुम को घेरे।

फूल नहीं थे तू ले आया
मैं अवाक् थी तू न गाया
बिना किये पूजा फल पाया,
मिटने मिटते जाना मैंने लीन हुई मैं उर में तेरे।
ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे।

८४

आशा के उठते स्वर पर
मैं मौन प्राण, रह जाऊँ।
आशा, मधु द्वार प्रणय का—
इस में आग क्या गाऊँ ?

८१

मानव से कुछ ही ऊँचे पर देव के समीप !
प्रियतम प्राण जीवन दीप !

पार्थिव सुख दुख ओछे बन्धन
कभी देख निबलता का क्षण
घोट डालते क्रूर करा से
उर म छिपा हुआ भी स्पन्दन !

कब की भूली आज जगी हूँ
पुन खोजने तुझे लगी हूँ
इतने नीरस दिन बीते पर
अब भी तेरे प्रेम पगी हूँ !

तुझ से प्लावित मेरा स्तर-स्तर
फिर भी क्षण भर तुझे अलग कर
क्षमा माग विनती करती हूँ—
प्रेम यदपि है सदा अनश्वर
उसे भूमि से ऊँचा रखना, दिव्य के समीप !
प्रियतम प्राण जीवन दीप !

८२

शीत के घन अम्बर को चीर
स्नेह स्पर्श सा बहता आया सुरभित मलय समीर।

वन की वल्लरिया फिर फूली
सुरभि हिंडोलो ही पर झूली
उल्लस स्वर स फिर फिर बोला पीपल-तरु पर कीर !

नागनना भी हुई पल्लवित,
मेरा अंग अंग मधु प्लावित,
मन रस से भर हरी हो गयी मेरे उर की पीर।

तेरा प्यार, सुरभि-सा वासन
अंग राग सा छाया परिमल
आयी हूँ अवगाहन करने स्नेह-सरी के तीर।

शीत शिशिर के सूखे सपने
फिर अब क्या दिन होंगे अपने ?
अब मधु ही है प्राण हमारा हम तुम एक शरीर।
शीत के घन अम्बर का चीर।

८३

ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे।
मेरा जीवन तरी वदी,
अंजलि वसुधा प्राणों ने दी,
पीड़ा से तीखे हृदभेदी
भावों में जलते दीपों की सदा आरती तुझ को घेरे।

पुष्प नहीं थे तू ले आया
मैं अवाक थी तू न गाया
बिना किये पूजा फल पाया
मिटते मिटते जाना मैंने लीन हुई मैं उर में तेरे।
ओ अप्रतिम उरस्थ देवता मेरे।

८४

आशा के उठते स्वर पर
मैं मौन प्राण, रह जाऊँ।
आशा, मधु द्वार प्रणय का—
इस से आगे क्या गाऊँ ?

जीवन भर धक्के खाये,
आहत भी हुए विलम्बित,
पर दीप रहे यदि जलता
तो शिखा क्या न हो कम्पित ?

विश्वात्मा ही यह जाने
हम सुखी हुए या असफल,
मैं कहूँ कि यदि हम हारे—
वह हार बडी है कोमल !

कर पार समुद जीवन का
हम पीछे लौट न देखें
बढ़ते अनन्त तक जावें
इस से गुरु क्या सुख लेखें !

आशा, मधु, द्वार प्रणय का—
इस से आगे क्या गाऊँ ?
आशा के उठते स्वर पर
मैं मौन, प्राण रह जाऊं !

• • •

विज्ञप्ति

'चिन्ता' के कुछ पद्य अंग्रेजी कविताओं के भावानुवाद हैं। इन का ब्योरा इस प्रकार है 'विश्वप्रिया' म स० १६—'प्रियतमे!' उस एक वाक्य का दुहराओ के भाव निकोलस रोयरिक की एक कविता से, और स० ६८—'मैं तुम्हारी समाधि पर प्रज्वलित एक मात्र दीप हूँ' के भाव डी० एच० लारेंस की एक कविता से लिये गये हैं। 'एकायन' म स० ३५ के एक पद की दो पंक्तियाँ—

'ईश्वर बन कर मन्त्रशक्ति से छू द मेरा भाल—
मात्र पुरुष रह बाँध भुजा स मर्माहत कर डाल।'

ब्राउनिंग के एक पद का रूपान्तर है। इन तीनों का ऋण स्वीकार करते हुए लेखक कृतज्ञता के साथ आनन्द का अनुभव करता है, क्योंकि इन कवियों से उसने जीवन के दूभर क्षणों में सान्त्वना पायी थी।